समर्पण

प्रासाद-निवेश की
मौलिमालायमान कृति
भुवनेश्वर लिंगराज की स्मृति मे—

शुक्लोपाह्व
द्विजेंद्र नाथ

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

लेखक की कृतियां :—

भगवान् रुद्राधिदेव महादेव एवं भगवती दुर्गा की कृपा से मैंने संस्कृत वाङ्मय के इस अनधीत अनुसन्धत्त शास्त्र के अवगाहन से भारतीय वास्तु-शास्त्र के सामान्य-शीर्षक-दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन को समाप्त कर दिया।

शुभं भूयात् सनातनम्
विदुषां वशंवदः

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२. भवन-निवेश भाग—१
३ भवन-निवेश भाग—२
४ प्रासाद-निवेश भाग—१
५ प्रासाद-निवेश भाग—२
६. प्रतिमा-विज्ञान
७ प्रतिमा-लक्षण
८ चित्र-लक्षण
९ चित्र एवं यन्त्रादि-शिल्प भाग—१
१० चित्र एवं यन्त्रादि-शिल्प भाग—२

निवेदन

हिन्दी मे वास्तु-शास्त्र पर प्रथम कृतियो का श्रीगणेश मैंने १९५४ ई० मे अपने प्रथम प्रकाशन—भारतीय-वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश के द्वारा किया था।

उत्तर-प्रदेश-राज्य की ओर से हिन्दी मे ऐतद्विषयक अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे निम्नलिखित चार ग्रन्थो—

१. भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२. भारतीत वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-विज्ञान

३. भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-लक्षण

४. भारतीय वास्तु-शास्त्र—चित्र-लक्षणम् (Hindu Canons of Painting)—पर अनुदान प्राप्त हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्य मे वास्तु-शिल्प के ग्रन्थो के प्रणयन का मुझे प्रथम सौभाग्य एवं श्रेय प्राप्त हो सका। उत्तर-प्रदेश-राज्य की हिन्दी-समिति ने इनमें से प्रथम दो कृतियो पर पारितोषिक भी प्रदान किया। अतएव इस दिशा मे अग्रसर होने के लिये लेखक ने केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-सचिवालय से भी इस प्रकाशन में साहाय्यार्थ प्रार्थना की। १९५६ में शेष छहो ग्रन्थो के लिये केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से भी अनुदान स्वीकृत हो गया। पुन. नयी उद्भावनाओं एवं सततोध्ययना-नुसन्धान-गवेषण-मनन-चिन्तनोपरान्त, इन छहो ग्रन्थो को निम्न अध्ययनो में विभाजित किया :—

भवन निवेश (Civil Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

टि० मूल मे तात्पर्य मूल-आधार, मूल-परिष्कार एवं मूल-सिद्धान्तो पर

आधारित भारतीत-प्रासाद-स्थापत्य पर नवीन प्रकाश—*a new light on Temple Art & Architecture* है।

टि० २ प्रासाद पद को देव-प्रासाद एवं राज-प्रासाद इन दोनो के अर्थ मे ही लोग गतार्थ करते आ रहे थे, परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार के अध्ययन एवं अनुसन्धान से प्रासाद-निवेश में हम *Palace-architecture* को *Temple architecture* मे गतार्थ नही कर सके—दे० अध्ययन।

चित्र, यन्त्र एव जयनागरादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)

भाग प्रथम — अध्ययन एव अनुवाद

भाग द्वितीय — मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

भगवती सर्वमंगला की कृपा से यह भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-दीपक- दश-ग्रन्थ अनुसन्धान-प्रकाशन-आयोजन आज समाप्त हो गया और अब दूसरे आयोजन (शिल्प शास्त्र — History of Silpa-Sastra on the lines of History of Dharma-Sastra) का भी श्रीगणेश होने जा रहा है। पंजाब विश्वविद्यालय ने इस प्रोजेक्ट को फर्स्ट प्रारेटी देकर यू०जी०सी० से इस फोर्थ प्लान पीरियड के लिये ग्रांट भी स्वीकृत करा दी। अत वर्तमान उप-कुलपति-महाभाग लाला सूरजभान जी धन्यवाद के पात्र है, जिन्होने संस्कृत-वाङ्मय के इस अनुसन्धान विषय पर बडी दिलचस्पी ली।

इस निर्देश मे जगद्गुरु-स्वामी शंकराचार्य-काम-कोटि-पीठम्-काञ्ची-पुरम् को नही भुलाया जा सकता जिन्होंने प्रारी तिलागमतन्त्र-सदस में मुझे दो बार शिल्प-व्याख्यान के लिये निमन्त्रित किया और इसी महाप्रदेश (इलिया-थागुड्डी एव काञ्चीपुरम) में यह नया अनुसन्धान ठाना।

अस्तु, अन्त में वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज-धाराधिप-भोजदेव विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-ग्रन्थ ११वी शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमे वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयो का प्रतिपादन है। यह बडा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायो की योजना भी गडबड़ है। हमारे देश मे एक समय था, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल

विशेषकर मन्दिर-निर्माण एवं यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एवं प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर में यह स्थापत्य-कौशल निम्न श्रेणियों (शूद्रादि जातियों) में क्यों चला गया ? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत में विलुप्त हो गई। दक्षिण में कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र-ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु-कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ। ऐसी अवस्था में वास्तु-पदावली का अर्थ एवं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बड़े ही असमंजस एवं एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-शास्त्र सागर का मैं यथाकथञ्चित् अपने प्रज्ञापोत के द्वारा ही सतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि संस्कृत के ये पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओं एवं पौराणिक अतिरञ्जनाओं के आगार नहीं हैं जैसा कि तथाकथित पुराविद् हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हैं। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथा-निर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद में वास्तव में बड़ी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है।

अन्त में यह भी पाठक ध्यान देवें कि आधुनिक विद्वानों ने जितनी कलमें चलाई, उन्होंने प्रासाद-स्थापत्य Temple Art cum-architecture के मूलाधारों एवं मूल-सिद्धान्तों के क्रोड में इस वास्तु का मूल्यांकन नहीं कर सके। अतः यह प्रथम प्रयास है। आशा है विद्वज्जन, पाठकजन, अनुरागीजन यह अध्ययन पढ़कर कुछ न कुछ अवश्य इस प्रयत्न का मूल्यांकन करेंगे।

छपाई के सम्बन्ध में प्रत्येक ग्रन्थ में सकेत किया ही है। अतः इस उक्ति के अतिरिक्त और क्या लिखें :—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ।

टि० छापेखाने में जल्दबाजी से जो कहीं २ गड़बड़िया है उनको अनुक्रमणी में ठीक कर दिया गया है।

मूल का संस्करण :—पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थों में एक नवीन व्याख्या में

वास्तु, शिल्प, चित्र इन तीनों पदों का अर्थ अवगम्य हो गया होगा। वास्तु का सीमित अर्थ भवन निवेश से है, शिल्प का सीमित अर्थ कला से है (जैसे मृण्मयी, काष्ठमयी, पाषाणी, धातूत्था आदि)। चित्र का भी सीमित अर्थ चित्र-कला से है। अतएव प्रासाद निवेश में ये तीनों अंग आवश्यक हैं—प्रासाद-कलेवर, प्रासाद-प्रतिमायें प्रासाद-चित्रण। अतएव प्रासाद निवेश भारतीय स्थापत्य का मौलिमालायमान तथा चर्मोत्कर्षविमान यहाँ पर सम्पन्न हुआ। अतः समराङ्गण-सूत्रधार के मूल-परिष्कार में हम ने इन अध्यायों को पहले भवन-निवेश से, पुनः राज-निवेश एवं राजसी-कलाओं—यन्त्र चित्रादि शिल्प-कलाओं—और अन्त में यथानिर्दिष्ट प्रासाद-निवेश के इस वास्तु-सागर के पारावार पर अपने प्रज्ञापोत से ही उतर सकें। अतएव यह अन्तिम संस्करण है। अध्यायों की तालिका के परिमार्जन-पूर्व एक तथ्य और भी उपस्थाप्य है कि यह समराङ्गण-सूत्रधार, वास्तव में जितने भी वास्तु ग्रन्थ हैं, शिल्प-ग्रन्थ हैं, चित्र-ग्रन्थ हैं, उनमें यही एक ऐसा विशाल, व्यापक एवं अधिकृत ग्रन्थ है। अतएव यह उत्तरापथीय वास्तु शिल्प का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, दाक्षिणात्य —(Southern-Dravida), पौर्वात्य (बंगाल, बिहार, आसाम) तथा पाश्चात्य (काश्मीर, नैपाल, तिब्बत आदि २) का भी प्रतिनिधित्व करता है। अतएव इस खण्ड में पांचों प्रासाद-शैलियों—नागर, द्राविड, भूमिज, वावाट, लाट की भरमार प्रासाद-जातियों, प्रासाद-वर्गों, प्रासाद-शाखाओं के अनुसार ये सब विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव इस महादृष्टि से इस खण्ड को भी हमने नया रूप प्रदान किया है और उसी अनुरूप से यह अध्याय तालिका परिमार्जित की गयी है —

मूल अध्याय			परिमार्जित अध्याय
४६	रुचकादि प्रासाद-लक्षण	..	६३
५२	प्रासाद जाति-लक्षण		६४
५४	प्रासाद-द्वार-मानादि लक्षण	...	६५
५३	जघन्य वास्तु-द्वार लक्षण	...	६६
५०	प्रासाद-शुभाशुभ लक्षण	...	६७

टि० ५१वां राज निवेश से सम्बन्धित है अतः वह यहाँ से निकाल दिया गया है।

टि० यह मूलाध्याय दो अध्यायों में विभाजित किया गया है—५७(अ) मेरु आदि बीस प्रासादों तथा ५७(ब) श्रीधरादि ४० तथा नन्दनादि १० प्रासादों के क्रोड में व वलित किया गया है।

प्रथम-खण्ड

अध्ययन

विषयानुक्रमणी



द्वितीय-खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल—छाद्य-प्रासाद

द्वितीय पटल—शिखरोत्तम-प्रासाद

तृतीय पटल—भौमिक प्रासाद एवं विमान

चतुर्थ पटल—लाट-प्रासाद

पंचम पटल—नागर प्रासाद

N. B. Price as marked Rs. 36 is Cancelled & raised to Rs. 40 on acct. of High cost of Illustrations

मूल-आधार

अ. वैदिक

ब. पौराणिक

स. लोक-धार्मिक

द. राजाश्रयित*

---

*टि० इस स्तम्भ में प्रथम तीन का ही प्रतिपादन उचित है। चतुर्थ (द राजाश्रयित)—की समीक्षा मूल-सिद्धान्तानुरूप सम्पन्न होगी।

विषय प्रवेश '—प्रासाद-निवेश—भारतीय स्थापत्य शास्त्र एवं कला—इन दोनो का अध्ययन व्यापक एव अति गम्भीर तथा विशाल विषय है । भारतीय—वास्तु-शास्त्र पर दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन का जो संकल्प किया था, वह अब समाप्त होने जा रहा है । प्रासाद-वास्तु (Temple-architecture) का यह ग्रथ हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि-शीर्षक से सम्बन्ध है।

प्रासाद-निवेश के लिये हमें अपने अतीत की ओर जाना होगा । प्रासाद के मूलाधारो मे वैदिक वाङ्मय, पुराण, लोक-धर्म एवं राजाश्रय—इन चारो की ओर मुडना होगा। अत इस मूल-अध्ययन को हम ने निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया है :—

(१) मूल परिष्कार	(३) शास्त्र एवं
(२) मूलाधार	(४) कला

सर्व-प्रथम हम यहा मूलाधारो को ले रहे हैं, और इन मूलाधारो से तात्पर्य यथोक्त हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोक-धार्मिकी तथा राजाश्रया से है। मूल परिष्कार—स० सू० के प्रासाद-खण्ड-अनुवाद से सम्बन्धित है ।

उपोद्घात—हिन्दू-प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एव भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नही सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहा का स्थापत्य यज्ञ वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिला पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द मे, जैसा हम आगे देखेंगे, प्रकर्षेण सादनम् (चयनम्) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण मे प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर मे हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की पृष्ठ-भूमि बनी ।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एव बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक प्रगतियो मे वास्तु-कलात्मक कृतियां एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियां हैं। ये कृतियां इष्टका-पाषाण-आदि चिरस्थायी द्रव्यों से आबद्ध होकर युग-युग तक इन सांस्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नही प्रस्तुत करती हैं, वरन् प्राचीन सांस्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एव जाति की वास्तु कृतियो मे तत्तद्देशीय एव तत्तज्जातीय विशेषताओं की छाप रहती है। यूनान,

रोम आदि देशो की वास्तु-कला की विशिष्टताओ से हम परिचित ही हैं (देखिये—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एव पुर-निवेश—पृष्ठ १६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहा की वास्तु-कला, जो विशेषकर मन्दिर-निर्माण मे पनपी, वृद्धिगत हुई और मन्दिर के उत्तुंग शिखर के समान ऊंची उठी, उसका आधार-भूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एव विश्वास को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करके उनके प्रोतत्त्व का कल्पन ही नही है, वरन् इस देश के दर्शन एव पुराण मे प्रतिष्ठापित तत्वो के रहस्यो का विजृम्भण भी। यहा के मन्दिरो के निर्माण मे जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा मे देव-मिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एव उसका आकार एव विस्तार तथा उपसहार—सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद-वास्तु के विकास मे हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजो ने पाषाण-पट्टिकाओ (Dolmens and Menhirs) से तथा आरण्यक वनस्पतियो की वन्दनवार एव मण्डपो से अलङ्कृत पूजा गृहो की निर्मिति की, वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव-मिलन की कथा एकाङ्गी नही है। मानव देव से मिलने के लिए ऊपर उठता है, तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छाती से लगाया है। प्रासाद-वास्तु की रूप-रेखा मे दोनो तत्व चित्रित हैं। प्रासाद के उत्तुंग शिखर मे देवत्व की खोज मानव के प्रयास का प्रतीक और जहा पर यह प्रासाद-शिखर बिन्दु मे अवसान प्राप्त करता है, वही मानव-देव-मिलन है अथवा मानवता का देवतत्व मे विकास है या मानवता एव देवत्व की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार बहु-सख्यक प्रासाद-रचनाओ मे जिस प्रकार मानव देवत्व की ओर बढता हुआ चित्रित किया जाता है, उसी प्रकार देवता मानव की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मदिरो मे देखो तेजपाल-मन्दिर—आबू पर्वत) भी प्रदर्शित है।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू प्रासाद (Hindu Temple) के इस सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणो की भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण, वापी, कूप एव तडागादि निर्माण के समान पूर्त्त धर्म की सस्था हैं। आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय

होगी। व्यावहारिक रूप से परोपकार्य भी धर्मार्थ समझा गया। प्राय सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एव तडागादि की महिमा गाई है। सूत्र-ग्रन्थो मे तो इस सस्था का बडा ही गुण-गान है। हिंदू-धर्मशास्त्रो मे वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन सस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अत आध्यात्मिक, धार्मिक एव व्यावहारिक सभी दृष्टियो से हमे इस प्राचीन सस्था का मूल्याङ्कन करना होगा।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रुप से समझने के लिये हमें सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन मतों एव आवर्तो का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ एव सनातन, दिव्य एव ओजस्वी, कान्त एव दान्त, स्कन्धो पर हिन्दू प्रासाद की बृहती शिलाम्रो का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद, हिन्दू सस्कृति, धर्म एव दर्शन, प्रार्थना, मत्र एव तन्त्र, यज्ञ एव चिन्तन, पुराण एव काव्य, आगम एव निगम—इन सबका पुञ्जीभूत मूर्त रुप है। भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नही है। सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वय लौकिक नही, वह अलौकिक एव आध्यात्मिक तत्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्तिमान् आकार ऐसे ही नही उदय हो गया। शताब्दियो की सास्कृतिक प्रगतियो के सघर्ष से जो अन्त मे उपसहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू प्रासाद है। उसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन मे भारतीय सस्कृति के विकास की नाना परम्पराओ—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्याङ्कन करना होगा। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आभा से उद्भावित एवं भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्दीपित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या मे जिन नाना पृष्ठ-भूमियो के दर्शन करना है उनमे वैदिकी पौराणिकी राजाश्रया एव लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य हैं। इस विषय प्रवेश मे पाठको का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य सदैव हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि शिवा उसकी सर्वातिशायिनी कला अथवा उसका मूर्तिमान स्वरूप (शरीर एव प्राण) हिन्दू प्रासाद है। हिन्दू सस्कृति की लोक-व्यापिनी यह प्रोज्ज्वल पताका है। हिन्दू-प्रासाद मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नही देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है। सागर एव बिन्दु, जड एव चेतन, आत्मा एव परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या मे हिन्दू शास्त्रकारो ने कलम तोड रक्खी है। हिन्दू-स्थपतियो ने भी अपनी छेनी और बसूली आदि सूत्राष्टक (दे० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से यही कमाल दिखाया है। क्रान्त-दर्शी

मनीषी कवियों (ऋषियों) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व के निष्पन्द मे छन्द-बन्ध एवं वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यञ्जन का सूत्रपात किया है, वही परिणाम प्रख्यात स्थपतियो की इन महाविभूतियों मे भी पाया गया है। इष्टका एवं पाषाण की इस रचना में धर्म एवं दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अतः इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता मे लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक निःश्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ चिन्तन—ध्यान, योग-वैराग्य, जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा देव-दर्शन, देवालय निर्माण—एक शब्द में इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न संस्थाओं एवं परम्पराओं ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी में मानव की धर्म-पिपासा एवं आध्यात्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता मे अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नही। उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नही। उसकी रागात्मिका प्रवृति भी एक सी नही। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नही। अतः मानवो की विभिन्न कोटियों के अनुरूप, साध्य पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति मे नाना साधना-पथों का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य हैं, लक्ष्य तो एक ही है। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। ससार, मानवता एवं देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग मे नही सुनाई देता जहाँ मानव-देव मिलन है। संसार-यात्रा एवं मानव का ऐहिक जीवन दोनो ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोग-शाला है। देशकाल की सीमाओं ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव-पूजा, देव-प्रतिष्ठा एवं देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एवं सर्व-लोकोपकारी संस्था साबित हुई है। तपोधन तपस्वियों एवं ज्ञान-घन ज्ञानियों से लेकर साधारण से साधारण विद्या बुद्धि वाले प्राकृत जनों—सभी का यह मनोरम एवं सरल साधना पथ है।

वैदिक

'प्रासाद' या 'विमान' देव-गृह ही नही पूजा-गृह भी है। इस देश मे उन उपासना-गृहो या स्थलो को, जिनको हम मन्दिरो या प्रासादो या विमानो के नाम से पुकारते हैं, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप मे पूजा-गृहो की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एव आच्छादन— इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओ के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था मे भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही— इस मे किसी का वैमत्य नही।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास मे देश-विशेष मे उस के भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनो पक्षो मे अन्यतर के विशेष विकास का सकीर्तन किया जाता है, परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एव सस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष झुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसमे अनिवार्य ससर्ग रहा। अत इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश मे प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहो के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य सस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपो मे प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यो की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था, पुन आगे चल कर आहुति-प्रधान। ऋग्वेद एव यजुर्वेद इन्ही दोनो परम्पराओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद मे अनेक देवो के प्रति जो स्तुतिया-ऋचायें हैं, उनमे 'वास्तोष्पति' की जो प्रकल्पना है वह प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-निवेश-परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य मे वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एव साधना है—(भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-प्रासाद के नाना निवेशो—वास्तु-निवेश (Site-Plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती-रचना), गर्भ-गृह-विन्यास (अर्थात विमानोत्थान) मडप-निवेश, शाला विन्यास आदि की विकसित परम्पराओ मे वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा मे घटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय मे हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रक्खेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्यायो मे अन्य प्रश्नो पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय धर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति 'पुरोहित' एवं कारक—गृहपति 'यजमान' के रूप में प्रकल्पित हैं। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-काण्ड में पुरोहितों में एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का अधिष्ठाता-अध्यक्ष कहलाता है, उसी प्रकार वास्तु-कर्म में स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही तक्षक एवं वर्धकि) भी स्थापक-आचार्य की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। प्रासाद-निर्माण में एक बार नहीं अनेक बार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय-कर्मों द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तन्त्र-शाखा से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है, अतः इस दृष्टि से वास्तु-शास्त्र वेदाङ्गषट्क में दो अङ्गों की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। ये दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य में ज्योतिष एवं कल्प दोनों का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ४६)।

वास्तु-पुरुष-मण्डल हिन्दू प्रासाद का नक्शा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है, जिसमें परम-तत्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाधा (यन्त्र शब्द में 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मडल में तदायत्ता भूमि सीमित होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल में बाधने का प्रयास है उसकी संज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मण्डल के चार उपकरणों—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु-पुरुष एवं मण्डल-संज्ञाओं में से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु पुरुष-कल्पना में वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ-भूमि तो नियत ही है, मण्डलाधार धरा की दृढता (stability) के सम्बन्ध में नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण हैं—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४, श० ब्रा० षष्ठ १-१-१५, वाजसनेय-संहिता एकादश ६९—इसी प्रकार तै० स० एवं गृह्य-सूत्रों में भी निर्देश है। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भूसमीकरण वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके हैं तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृ० ५८-६१, तदनुरूप यह पृथु जो वास्तव में धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष prototype) है, वह श० ब्रा० (चतुर्विंश ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन से परिपुष्ट होता है।

वास्तु चक्र–निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा में भू-कर्षण अङ्कुरारोपण एवं समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थायें हैं क्योंकि किसी भी यज्ञ सम्पादन में आवश्यक यज्ञ-स्थल-चयन एवं उस पर वेदी-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण में आवश्यक वैदिक कर्म-काण्ड प्राथमिक संस्कार ही नहीं, वे उस के पूरक एवं अभिन्न अङ्ग हैं। कण्व-संहिता (विंशति ३-४), मैत्रायणी-संहिता (तृतीय २-४५), श० ब्रा० (सप्तम २ २ १-१४) आदि में निर्दिष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू-कर्षण एवं अंकुरार्पण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद-निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि भूमि का द्वादश वृषभों के द्वारा कर्षण एवं अङ्कुरारोपण का उल्लेख है। अग्नि-चयन में महावेदी के निर्माण एवं यज्ञीय भूमि पर अङ्कुरारोपण से लगाकर 'मङ्गलाङ्कुर' की प्रक्रिया पूजा-वास्तु की सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१ १८)। अथर्ववेद (पंचम २५ २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक-वेदी का अङ्कुरारोपण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर जो इस गर्भ में ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को प्राप्त-मात्र ही नहीं करता है वरन् उसे दूसरे ही तत्व में परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत हो कर भूमि कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति में उत्पन्न होता है परन्तु उस का रूप भूमि पर निवेश्य पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण भू-समीकरण एवं अङ्कुरार्पण के साथ साथ भूत-बलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत-गणों (spirits) की वहां से उनकी विदाई ही अभीष्ट नहीं है, वरन् चयित पद पर प्रथम बलि भी है, जिस से निराकार परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २ ३ ६-७) इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १-८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है

आकारवर्णगन्धादिगुणोपेतं भुवः स्थलम्।
सगृह्य स्थपति प्राज्ञो दत्वा देवबलिं पुनः॥
स्वस्तिवाचनघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः।
अपयान्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसाः॥
यासान्तरं व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम्।

इति मन्त्र समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ॥
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत ।
यतो गोभि परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥
सहृष्टवृषनादैश्च निर्धौत-कलुषीकृतम् ।
वत्स-वक्त्रच्युतैः फेनैः संस्कृत प्रस्नवैरपि ॥
स्नात गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषे सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोस्पदै क्षतकौतुकम् ॥
गोमन्धेन समाविष्ट पुण्यतोयै शुभ पुन ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है —

सम्मार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवा च परिवासेन भूमि शुद्ध्यति पञ्चभि ॥

मनु० ५—१२४

भू-कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अवलोक्य है—म० ५

अस्तु, भूकर्षणादि प्रक्रियाओ से समीकृत भूमि अब वास्तु पुरुष मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एव भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। पृथ्वी' चौडी अर्थात् असमीकृता— ऊवड-खावड अब भूमि दर्पणाम-समीकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्मराज्य की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त) प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणो के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिसमे भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एव सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २ ५. ७) वेदी की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बनाता है। देवो ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहा (यज्ञ- वेदी के चारो कोणो) पर ला कर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एव देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है—यह बात शनै हमारी समझ मे आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु पुरुष-मण्डल के औपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन मे एक तथ्य और यहा निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषङ्गिकता सकेतित है। सुधी कुमारी डा० क्रैमरिश (see H. T. p 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बड़ा ही तथ्योद्घाटक है —

'The surface of the earth, in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points It is therefore represented by the ideogram or mandala of a square [F N 44—*The square dose not refer to the outline of the earth* It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West, and South and North The earth is therefore called 'Caturbhrsti' *four-cornered* (Rv X 58 3) and *is symbolically* shown as Prithvi mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth *is circular* (Rv X 89 4 S B VII I I 37)] The identification of the square with the Vedi is in shape only and not *in size* and belongs to the *symbolism of the* Hindu Temple The Vedi represents and is levelled earth, a place *of sacrifice or worship* . *No part of the ground should rise above* it for it was from there that the gods ascended to heaven' (S B III I I I 2) The site the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (S B VIII 5 2 16) The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the *intermediate region* (*antriksa*) . *From it* also it leads downward and rests on earth In it the temple has *its elevation* The Vastu purusamandala, the temple-diagram and metephysical plan is laid out on the firm and level ground, it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth '

ऋऊपर ग्वेद का चतुर्भ्रष्टि' मे पृथ्वी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित नाना आकृतियो के वास्तु-मण्डलो मे वैदिक उत्पत्ति प्रसृति

इति मन्त्र समुच्चार्य विदिते भूपरिग्रहे ॥
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
सचतुष्पादच सवत्सादच ततो गास्तत्र वासयेत ।
यतो गोभि परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥
सहृष्टवृषनादैश्च निर्घोषैर्वत्सपीडितम् ।
वत्स-वक्त्रच्युतै फेनै सस्कृत प्रस्नवैरपि ॥
स्नात गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषै सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोस्पदं भ्रमत्कौतुकम् ॥
गोग-धेन समाविष्ट पुण्यतोयै शुभ पुन ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है —

समार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवा च परिवासेन भूमि शुद्ध्यति पञ्चभि ॥

मनु० ५—१२४

भू कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अवलोक्य है—म० ५

अस्तु भूकर्षणादि प्रक्रियाओं से समीकृत भूमि अब वास्तु पुरुष मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एव भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथ्वी' चौडी अर्थात् असमीकृता— ऊबड खाबड अब भूमि दर्पणाम-समाकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्मराज्य की प्रथम अवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त) प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणो के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिसमे भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एव सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २ ५. ७) वेदी की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बनाता है। देवो ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहा (यज्ञ- वेदी के चारो कोणो) पर ला कर रख दिया है। इस दृष्टि से वेदी पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि वेदी एव देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है —यह शन शनै हमारी समझ मे आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु पुरुष मण्डल के ओपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन मे एक तथ्य और यहा निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता सर्वतित है। सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश (see H. T p 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बडा ही तथ्योद्घाटक है —

'The surface of the earth, in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points. It is therefore represented by the ideogram or mandala of a square [F N 44—The square dose not refer to the outline of the earth. It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West and South and North. The earth is therefore called Caturbhrsti four cornered (Rv X 58 3) snd is symbolically shown as Prithvi mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth is circular (Rv X 89 4 S B VII I I 37)] The identification of the square with the Vedi is in shape only and not in size and belongs to the symbolism of the Hindu Temple. The Vedi represents and is levelled earth, a place of sacrifice or worship. No part of the ground should rise above it for it was from there that the gods ascended to heaven' (S B III I I I 2). The site the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (S B VIII 5 2 16). The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space the intermediate region (antriksa). From it also it leads downward and rests on earth. In it the temple has its elevation. The Vastu purusamandala, the temple diagram and metephysical plan is laid out on the firm and level ground, it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth.'

"ऋग्वेद का 'चतुर्भृष्टि' मे पृथ्वी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित नाना आकृतियो के वास्तु-मण्डलो मे वैदिक उत्पत्ति प्रभृति

कहा तक संगत होती है? वास्तु-पदो के अनेक आकारो मे चतुरस्राकार एवं गोलाकर सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनो आकार भारतवर्ष की वास्तु कला मे वैदिक वेदिका एवं अग्नि से आये हैं। वेदिका एवं अग्नि दोनो ही एक ही संज्ञा मे हैं। वास्तु-मण्डल के चतुरस्राकार एवं वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध मे हम इसी अध्याय मे आगे दूसरे स्तम्भ मे विशेष विचार करेंगे। यहा पर प्रथम वास्तुपुरुष के वैदिक जन्म पर थोडा सा और विवेचन वाछित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही अवान्तर रूप है। रुद्र प्रजापति ने उषा के साथ गाठी की और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पड़ा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋग्वे० दशम० ६१ ७) ने इसकी—यज्ञ-वास्तु-स्वामी—यह सज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एवं यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चल कर सभी भवनो के पदो का स्वामी बना।

वास्तु-पुरुष मे असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) मे 'गृह रक्षक' के रूप मे प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६); परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋग्वे० सप्तम २२ १, पा० गृ० सू० तृतीय ४ ७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहा पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योंकि रुद्र एवं अग्नि तत्वतः एक ही हैं—दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५) ऋग्वेद (दे० प्रथम ६० ४, पचम ६ १-२, ७-६, ८-१ तथा षष्ठ १६ २४, ४८ ८-३) मे वह 'गृहपति' 'वासक' आदि सज्ञाओ से सकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५ २८) उसे देवो म 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओ के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओ को मानवो को वसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओ के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६ ६) मे प्रजापति, सोम अग्नि, धाता गृह-पति के रुप मे सम्बोधित हैं, ये सभी वसु-देव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एवं प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि–प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग—भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान या मर्मोदघाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग है। सुश्री क्रोमारिश ने (दे० H T p ९6) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है, वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है —

" .... Vastu now is its name Its image is that of the Purusa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm On its appeased being and form spread out of the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation Its superstructure points to the origin of the primeval descent, it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple This body once more, in concrete from (murti) made by art, is that of the Purusa, arisen '

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ('तैत्वङ्ग प्रथम प्रोक्त वास्तु-पु मो विकल्पना' सू० सू० ४८-२) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी इन्जीनियरिंग (i e. Temple-plan) वास्तु पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म, तथा स्थूल। मण्डल (चतुरस्राकार पद) उसका स्थूल रूप है, जो वास्तव मे वास्तु-पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगो पर अधिष्ठातृ देव-गण (सूक्ष्म रूप) तथा उनमे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म के परम तत्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गो– वास्तु (परा), पुरुष, (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अत मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठ भूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय मे संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष मे प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहा तक उसके नाना अङ्गो के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रथ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १५१-७ मे कर आये है। रहा

कहा तक सगत होती है? वास्तु-पदो के अनेक आकारो मे चतुरश्राकार एव गोलाकर सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनो आकार भारतवर्ष की वास्तु-कला मे वैदिक वेदिका एव अग्नि से आये हैं। वेदिका एव अग्नि दोनो ही एक ही सज्ञा मे हैं। वास्तु-मण्डल के चतुरश्राकार एव वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध मे हम इसी अध्याय मे आगे दूसरे स्तम्भ मे विशेष विचार करेंगे। यहा पर प्रथम वास्तुपुरुष के वैदिक जन्म पर थोडा सा और विवेचन वाछित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही अवान्तर रूप है। रुद्र-प्रजापति न उषा के साथ शादी की और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पडा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋग्वे० दशम० ६१ ७) ने इसको—यज्ञ-वास्तु-स्वामी—यह सज्ञा दी है। जो यज्ञीय-धर्म का रक्षक था एव यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चल कर सभी भवनो के पदो का स्वामी बना।

वास्तु पुरुष मे असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) मे 'गृह-रक्षक' के रूप मे प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६); परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋग्वे० सप्तम २२ १, पा० गृ० सू० तृतीय ४ ७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहा पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योकि रुद्र एव अग्नि तत्वत. एक ही है—दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५) ऋग्वेद (दे० प्रथम ६० ४, पचम ६ १-२, ७-६, ८-१ तथा षष्ठ १६ २४, ४८ ८-३) मे वह 'गृहपति' 'वासक' आदि सज्ञाओ से सकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५ २८) उसे देवो मे 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओ के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओ को मानवो को वसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओ के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६ ६) मे प्रजापति, सोम अग्नि, धाता गृह-पति के रूप मे सम्बोधित हैं, ये सभी वसु-देव 'वास्तु-मण्डल' के अभिधा एव प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि-प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग—भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुधी क्रोमारिश ने (दे० H T p. 46) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है, वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है —

"............Vastu now is its name Its image is that of the Purusa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm On its appeased being and form spread out on the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation Its superstructure points to the origin of the primeval descent, it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple This body once more, in concrete from (murti) made by art, is that of the Purusa, arisen"

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ('तेष्वङ्ग प्रथम प्रोक्त वास्तु-पुसो विकल्पना' सू० सू० ४८-३) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी इन्जीनियरिंग (i e. Temple-plan) वास्तु पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म, तथा स्थूल। मण्डल (चतुरश्राकार पद) उसका स्थूल रूप है, जो वास्तव मे वास्तु-पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगो पर अधिष्ठातृ देव-गण (सूक्ष्म रूप) तथा उनसे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म के परम तत्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गो—वास्तु (परा), पुरुष, (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अत मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठ-भूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय मे संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष मे प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहा तक उसके नाना अङ्गो के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रंथ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १२१-७ मे कर आये है। रहा

'परा' रूप अर्थात् वास्तु, उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके है (वही)। यहा पर वास्तु-पुरूप-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक की मीमासा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमासा मे 'परा-रूप' 'वास्तु' पर भी थोडा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एव निविष्ट पद (planned site) की सज्ञा है। इस का मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु सुनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य म प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराट्-पुरुष—पुरूष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनो एक है एव तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' से किसी भी आयत (Polygon) का सकेत हो सकता है। वास्तु पुरुष-मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि मे परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य मे वास्तु-पुरूप-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (site-plan), स्थान-निवेश (ground plan) एव अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एव रागो का। वास्तु शास्त्र मे प्रतिपादित तलच्छन्द एव ऊर्ध्व-च्छन्द का वही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओ की वास्तु कला के सभी वर्गों के भवनो के विन्यास मे वा० पु० म० एक प्रथम एव अभिन्न अग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्व-च्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमे अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक जन्म (Vedic origin) कहा तक सगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थो (दि० बौधा० शु० सू० प्रथम २२-२८) मे 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' मे 'वर्तुल' निहित है और उसी 'वर्तुल' मे ही चतुरश्र-करण' प्रतिफलित होता है। चतुराश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनो ही आकार वैदिक चिति—अग्नि(Fire-altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं।

प्राचीन वश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य में पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणानुवी रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमें प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओं में से पूर्व-कोणस्था-वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिम-कोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनों के आधिराज्य क्रमश द्यौ, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष हैं (श० ब्रा० द्वादश ४ १ ३)। यज्ञशाला (विशेष कर सोमादि-यज्ञों में) अन्य अनेक वेदियां विनिर्मित होती है, जिनकी प्राय सभी आकृतियां चतुरश्रा होती हैं—उत्तर-वेदी (जो सर्व-प्रधान वेदी है) एवं आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही। उ० वे० की 'नाभि' एवं 'उत्त' की भी यही आकृति होती है।

अथच इन सभी नैत्यिक यज्ञों की वेदियों (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणा) एवं नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियों (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एवं प्रयोजन सभी प्रासाद निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते हैं। वैदिक परम्परा में वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है, यज्ञीय कर्म काण्ड की तो यह क्षणमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न की निश्चित आकृति। श० ब्रा० (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि—वेदी पृथ्वी है और अस्तर्वेदी द्यौ—कितना सगत है।

हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमि में यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रूप तिरोहित हो कर द्यौ की पूर्णता में परिणत हो जाता है। अतएव उसी पूर्णता के प्रतीकत्व में उस चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एवं वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अथच यागोपलाक्षणिक एवं प्रासाद-वास्तुक चतुरश्राकार पुन नाना आकारों में परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय परम्परा ही नहीं जिसमें एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदों की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अपितु सूत्र-साहित्य (दे० बौधायन शुल्व-सूत्र आदि) में भी यह परम्परा पल्लवित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध में अवलाप कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास' मूल-सिद्धान्तों के क्रोड में लिया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि रचना के प्रतिपादक शुल्वसूत्रों (जो कल्प-सूत्रों के ही अवान्तर पुञ्ज हैं) में वर्णित नाना

'परा' रूप अर्थात् वास्तु, उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके है (वही)। यहा पर वास्तु-पुरुष-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक की मीमामा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमामा मे 'परा-रूप' 'वास्तु' पर भी थोढा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एव निविष्ट पद (planned site) की सज्ञा है। इस का मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु सनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य मे प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराट्-पुरुष—पुरुष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनो एक है एव तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' मे किसी भी आयत (Polygon) का सकेत हो सकता है। वास्तु पुरुष-मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि मे परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य मे वास्तु-पुरुष-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (site-plan), स्थान-निवेश (ground plan) एव अन्य एतदसम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एव रागो का। वास्तु शास्त्र मे प्रतिपादित तलच्छन्द एव ऊर्ध्व-च्छन्द का वही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओ की वास्तु कला के सभी वर्गों के भवनो के विन्यास मे वा० पु० म० एक प्रथम एव अभिन्न अग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, ऊर्ध्व-च्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमे अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक जन्म (Vedic origin) कहा तक सगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थो (दे० बौधा० शु० सू० प्रथम २२-२८) मे 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' मे 'वर्तुल' निहित है और उसी 'वर्तुल' मे ही चतुरश्र-करण' प्रतिफलित होता है। चतुराश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनो ही आकार वैदिक चिति—अग्नि(Fire-altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये है।

हैं। जितने अधिक (layers) उठते थे, उतनी ही अधिक ऊंचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा मे २०० ईंटो के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी मे १००० ईंटें लगें। पहले, तीसरे और पाचवें रद्दो के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे, परन्तु दूसरे और चौथे रद्दो मे दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एव समानाकार की एक इष्टिका दूसरा इष्टिका पर न पडने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार–चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं, तदनुसार इन वेदियो मे इष्टिका-न्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रो (Squares) मे ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन मे निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit – June 1876 no 1, Vols I & IV etc

'The first alter covered an area of 7½ purusas, which means 7½ *squares, each side of which was equal to a purusa, i e* the height of a man with uplifted arms On each subsequent occasion the area was increased by one square purusa Thus at the second layer of the alter one square purusa was to the 7½ constituting the first citi *altar*, and at the third layer two square *purusas* were added and so on But the shape of the whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged The area of every citi (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, *tortoise, etc—had to be equal* to 7½ square purusas

Thus squares had to be found which would be equal to two or more given squares, or equal to the difference of two given squares, oblongs were turned into squares and squares into oblongs Triangles were constructed equal to given squares or oblongs and so on A circle had to be constructed, the area of which might equal as closely as possible that of a given square

अस्तु, लगभग १५६ सज्जाओ के साथ (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) जो मेरे—हिंदू प्रासाद मे द्रष्टव्य है।

वेदी-विन्यास मे जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओ के चयन का सकेत है उन की पृथक् पृथक् सजावें होती थी। इष्टिका-कर्म (masonry) उस सुदूर अतीत मे कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं।

'अग्नियो' (ऐष्टिक यज्ञ-वेदिाओ) पर कुछ विशेष सकेत यहा आवश्यक है। डा० आचार्य (दे० H A I A p 63)ठीक ही लिखते हैं —

' The construction of these altars, which were required for the great soma sacrifice, seems to have been based on scietific principles and was probably the precursor of the temple which later became the chief feature of Hindu Architecture "

इन अग्नि-वेदियो का नाना आकृतियो मे निर्माण होता था। तैत्तरीय-सहिता (दे० पचम ४-११) मे इनका पुरातनतम निर्देश है। बौधायन तथा आपस्तम्ब के सूत्रो मे इन वेदियो की आकृतियो एव उनके निर्माण मे प्रयुक्त इष्टकाओ (Brichs)के पूण विवरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न सज्ञायें उल्लेख्य हैं —

सज्ञायें	आकृतिया
१ चतुरश्रा श्येनचिति	चौकोर
२ कण्व चिति	„ कुछ फेर सहित
३ अलज चिति	„ „
४ प्राग्-चिति	(Equilateral triangle)
५ उभयत प्राग् चिति	„
६ रथ चक्र चिति	

टि० —इसके दो भेद सकीर्तित हैं—एक ठोस तथा बिना अरो (spokes) के—रथ-चक्राकृति वाली तथा दूसरी षोडश अरो सहित रथ-चक्राकृति।

७ द्रोणचिति	घटाकार (चतुरश्र अथवा वर्तुल)
८ परिचय्य-चिति	

टि० .—वैकल्पिक-योजना मे यह वर्तुलाकार होती है और इष्टका न्यास मे कुछ परिवर्तनो से यह 'रथचक्र चिति' के समान ही निर्मेय है।

९ समूह्य चिति	(वर्तुल)
१० कूर्म-चिति	यथानाम कच्छपाकार जो त्रिकोण अथवा वर्तुल दोनो मे निर्माप्य है।

इन वेदियो के निर्माण मे एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनका निर्माण चय-रचना (masonry) की प्राचीन पद्धति का परिचायक है। इनमे प्रत्येक वेदी की रचना कम से कम ईंटो की पाच उठान या रद्दो (layers) में सम्पन्न की जाती थी। किन्ही किन्ही म ये (layers) १० और १५ तक प्रतिपादित

है। जितने अधिक (layers) उठते थे, उतनी ही अधिक ऊचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा मे २०० ईटो के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी मे १००० ईंटें लगें। पहले, तीसरे और पांचवें रद्दो के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे, परन्तु दूसरे और चौथे रद्दो मे दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एव समानाकार की एक इष्टिका दूसरी इष्टिका पर न पडने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार—चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं, तदनुसार इन वेदियो मे इष्टिका-न्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रो (Squares) मे ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन मे निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit – June 1876 no 1, Vols I & IV etc.

'The first alter covered an area of 7½ purusas, which means 7½ squares, each side of which was equal to a purusa, i e the height of a man with uplifted arms On each subsequent occasion the area was increased by one square purusa Thus at the second layer of the alter one square purusa was to the 7½ constituting the first citi *altar*, and at the third layer two square purusas were added and so on But the shape of the whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged The area of every citi (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, tortoise, etc—had to be equal to 7½ square purusas

Thus squares had to be found which would be equal to two or more given squares, or equal to the difference of two given squares, oblongs were turned into squares and squares into oblongs; Triangles were constructed equal to given squares or oblongs and so on A circle had to be constructed, the area of which might equal as closely as possible that of a given square.

अस्तु, लगभग १२६ सज्ञाओ के साथ (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) जो मेरे—हिन्दू प्रासाद मे द्रष्टव्य है।

वेदी-विन्यास मे जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओ के चयन का सकेत है उन की पृथक् पृथक् सज्ञायें होती थी। इष्टिका-कर्म (masonry) उस सुदूर अतीत मे कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं।

पौराणिक

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से सकीर्तन किया जाता है, उस मे 'श्रुति' (वेद एव वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्म-शास्त्र का) क्रम आता है, पुन पुराणो का। परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओं मे विशेष अन्तर नही है। सत्य तो यह है कि पुराणों ने श्रौताचार (जो एक प्रकार से विशिष्ट या शिष्ट जनो का आचार था) की ही भित्ति पर श्रौत-स्मार्त संस्थाओ का नवीन रुप (पौराणिक रुप) प्रदान किया।

पुराणो की महती देन 'सामान्याचार' है जिस में आर्य एव अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एव शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रुप मे भाग ले सकते थे। इस सामान्याचार मे 'देव भक्ति' एव तदनुरूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी। त्रिमूर्ति—ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की कल्पना एव तदाधार वैष्णव एव शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एव तदनुषङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एव तत्सम्बन्धी अवतारवाद एव उनकी नाना लीलायें आदि की बडी बडी अनेक शृङ्खलायें निर्मित हुई।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणो की रचना कितनी पुरानी है, पुराणो का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एव वेद मे कितनी घनिष्टता है, पुराणो की संख्या एव पुराणो से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय है—इत्यादि प्रश्नो की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नही है। यहा प्रकृत प्रासाद-वास्तु के विकास मे वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन की समीक्षा का अवसर है। अत इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम हम उस आधारभौतिक दृष्टि-कोण से विवेचन करेंगे जिससे पुराणो मे प्रतिपादित पूत धर्म के प्रचार मे देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

इष्टापूर्त' की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं। यहा पर थोडा विस्तार से कथन आवश्यक है।

इष्टापूर्त' वैसे तो एक शब्द है, परन्तु इसमे दो भाग हैं—इष्ट+पूर्त—प्रथम का अर्थ है यज्ञ-सम्पादन (इष्टि=यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled) —'Spiritual result or merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts' Kane, H.D. Vol 2. pt. 2. p 843.

प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वेद की धन्वनिव प्रपा — १०.४ १ तथा भोजस्येद पुष्करिणीव' — १० १०७ १० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म सूत्र (अ० ६१ १-२) ने कूप एवं तडाग निर्माण की जो प्रशंसा की है वह उसमें पाप प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य है।

शा० गृ० सू० (५ २) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन है। आश्व० गृ० सू० (४ ६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट में भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं। पा० गृ० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है —

.. अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामस्तत्रो-दगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुण यवमयं चरुं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्ने इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुं हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमसेरनी-कमिति हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टयै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्त स्विष्टकृत्प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वा-लङ्कृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्त जपन्नाचार्याय वरं दत्त्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनु-र्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम्। पार० गृ० परिशिष्ट'।

अस्तु सूत्रग्रन्थों के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी वह निकली जो पुराणों के सागर में मिली। पुराणों में इस पद्धति पर वृहद् विजृम्भण हुआ। अग्नि पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य है। तन्त्रों एवं आगमों की भी यही गाथा है। पंचरात्र आदि तन्त्र ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम ग्रन्थ सभी में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कालान्तर पाकर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपरार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्ग तत्त्व नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा-मयूख तथा उत्सर्ग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य है।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है, परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिए — प्रतिष्ठापनं सविधोत्सर्जनमित्यर्थ — दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—संकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा

एवं भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतों के लिये होता है। अतः उत्सृष्टा(दाता) भी तो उन भूतों में एक है अतः वह भी समान-रूप से उसके भोग का अधिकारी। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्सृष्टा (दाता) इन के भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि बाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसगत है जहां पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्ब-मान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन—'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपाराम सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण में तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग) को इष्ट-धर्म से भी ऊंचा माना गया है—

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसमतौ
प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्
मुक्तिभुक्ति प्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म है। 'पूर्त' से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमें इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु 'पूर्त' भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन है। अतः इसी महाभावना से पूर्त-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक बृहद् निवेश है जिस में प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरां सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापीकूप-तडागादि।

सूत्र-कारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है, परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। यागादि में वृक्षों के बहुत प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहा) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की वन्दनवार प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एवं वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्म-काण्ड सम्पन्न हुआ है? (दे० हेमाद्रिव्रतखण्ड—अश्वत्थोदम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः पंचाङ्गाः इति प्रोक्ता सर्वकर्मसुशोभनाः—

जिस स्थान पर कूपादि जलाशयो की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सग होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेष कर बड़े-बड़े वनस्पतियों - न्यग्रोध— पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश मे कोई भी जन-स्थान (public-place) बिना वृक्षों की छाया कैसे बन सकता था ? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। माहाभाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय मे भी 'आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता' का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के तट पर:—

> वृक्षद पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ।
> तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा॥
> पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः।
> (अनु० प० ५८. ३०—३१)

विष्णु धर्म-सूत्र (९१ ४) का भी यही समर्थन है –

> वृक्षारोपियतुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणो की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्मपुराण), जहा वृक्षारोपण, देवालय निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एव यगादि कर्म-काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहा पर सकेत करने का अभिप्राय पाठको का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहा पर देवतायन —मन्दिर-निवेश की पद्धति मे वृक्ष एक अभिन्न अग थे। मत्स्यपुराण (दे०अ० २७० २८-२९)मे स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा म फल-वृक्ष, पश्चिम मे कमलकार तथा उत्तर मे पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सालादि तालादि वृक्ष भी आरोपित हो। प्राचीन धर्म-शास्त्रो मे वृक्षो की रक्षा पर बड़े कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु- धर्म-सूत्र ५ ५५ ५६)। अतः स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग मे वृक्षारोपण एव वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अग हैं।

इस अत्यन्त सक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अङ्गो मे केवल जलाशय (वापी, कूप, तडाग) एव आराम की प्रतिष्ठा एव उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थो मे सामग्री है। जहा तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर मे प्रतिमा-प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिक व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अग हैं) नहीं। वह तो स्मार्त एव पौराणिक संस्था है, परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है –

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते,
कूपवापीषु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च ।
एष एव विधिर्दृष्टः प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेषः स्यात् प्रासादोद्यानभूमिषु ॥

म. पु. ५८. ५०-५२

अर्थात् जो विधि तडागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है, वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझना चाहिये —विशेष यह कि मन्त्रों के प्रयोग में थोड़ी सी हेर फेर अवश्य रहे ।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा (Foundation of temples) तथा देवता-प्रतिष्ठा (Consecration of an imag in the temple) पर विस्तृत विवरण प्राय सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रुप से लिखेंगे। मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। आदि शंकराचार्य के जगत् प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनो से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहा पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा सा और संकेत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्संहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव में उसे अर्थ-पुराण समझना चाहिये। बृहत्संहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च ।
देवायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ॥
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता ।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते ॥

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहा पर पुष्पवृक्षों एवं फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एवं सुनिविष्ट हैं वहां पर यश एवं धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान् (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवतायतन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोकों का अभिलाषी यजमान

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दि० १३. २४०-४४) में 'प्रासाद-स्तवन' बड़ा ही मार्मिक है।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन-समाज में इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रासाद-वास्तु के विवेचनावसर ये ग्रन्थ पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्य-पुण्य पर प्रबल एवं प्रचुर संकेत करते हैं। इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बड़ा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अतः समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यहीं पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव में 'इष्टापूर्त' की परम्परा में प्रतिष्ठापित प्रासादों का माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पड़ेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है :

प्रासादराज मेरुः	एवमेष चतुःशृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभित ।
५५. १४.१५	मेरुर्मेरूपमः कार्यो वाञ्छता शुभमात्मनः ॥
	सर्वस्वर्णमयं मेरुं यद् दत्वा पुण्यमाप्नुयात् ।
	तमिष्टकाशैलमयं कृत्वा तदधिकं भजेत् ॥
सर्वतोभद्र	जयं लक्ष्मी यशः कीर्तिं सर्वाणीष्टफलानि च ।
५५. ३०½;५६-१४०	करोति सर्वतोभद्र सर्वतोभद्रकः कृत. ॥
	विधाय सर्वतोभद्रं देवानामालयं शुभम् ।
	लभते परमं लोकं दिवि स्वच्छन्द-भावितम् ॥

एचकादिचतुष्षष्टि-प्रासादाःपुराणां भूधर्मार्थाय भुक्ति-मुक्ति-प्रदाः नृणाम् ।
५६-८

मेर्वादिविंशिकायाम्

श्रीधरः	श्रीधरं कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानवः ।
५७.४८.४९	इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
	भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नोपले च परे पदे ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तः शान्तश्च स्यान्न संशयः ॥
सुभद्रः	प्रासाद ये सुभद्राख्य कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७.१११½	कल्पकोटिसहस्राणि भद्र तेषां श्रियाप्रतः ॥
सुरसुन्दरः	कुर्याद् य एनं प्रासादमीदृश सुरसुन्दरम् '
५७ पृ० ५७ वाँ	स वैरिञ्चं युगशतं सूर्यलोके महीयते ॥
नन्द्यावर्तः	भक्त्या ये कारयन्त्येनं नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५७ वाँ	विमान शुभमारुह्य शक्रलोकं व्रजन्ति ते ॥

सिद्धार्थ	[illegible] कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	[illegible] भवेत् सर्वकामाप्तः शिवलोके च शाश्वत ॥
शङ्खवर्धन	य शङ्खवर्धनं कुर्यात् [illegible] भुनक्ति चिर महीम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा चास्य सतत भवेल्लक्ष्मी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य भूषण	त्रैलोक्य-भूषण ब्रूमो वन्दित त्रिदशैरपि ॥
५७ पृ० ६३, ६४	आश्रय सर्वदेवाना पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य-भूषण कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्त यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्म	पद्माख्य कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभ ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धतस्तेन पापपङ्कमहोदधेः ॥
पक्षवाहु	पक्षवाहु कृतो येन त्रिगभ कर्मभूषित ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्रप्रताप स्यात् तुरङ्गत्रातनायक ॥
लक्ष्मीधर	अथ लक्ष्मीधर ब्रूमो य कृत्वा विजय नर ।
५७ पृ० ६८, ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चेश्वरात् ॥
	लक्ष्मीधराख्य प्रासाद य कुर्याद् वसुधातले ।
	अक्षये स पदे तस्ये लीयते नात्र सशय ॥
रतिदेह	रतिदेहमय ब्रूम प्रासाद सुमनोरमम् ।
५० पृ० ६९-७०	अप्सरोगण-सकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एव विध य कुरुते प्रासाद रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषयति कन्दर्पं स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकाम	सिद्धिकाममथ ब्रूमो प्रमथैरुपशोभितम् ।
५७ पृ० ७० ७१	धन-पुत्र-कलत्राणि कृते यत्रानुयान्नर ॥
नन्दिघोष	नन्दिघोषमथ ब्रूमो विपक्षभयनाशनम् ।
५७ पृ० ७२	य एन भक्तित कुर्यात् स भवेदजरामर ।
सुरानन्द	य करोति सुरानन्द वरदास्तस्य मातर ।
५७ पृ० ७५	सुरास्तस्य हानिस्तायंमपमृत्यु हरन्ति च ॥
हर्षण	हर्षणः क्रियते यत्र [illegible] देवा सुखमेधते ।
५७ पृ० ७७	क्षेम गोब्राह्मणानां स्यात पुनरामश्च पार्थिव ॥
दुर्जय	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।

५७ पृ० ७६	न भवेत् तत्र दुर्भिक्षं न च व्याधिकृतं भयम् ॥
त्रिकूट	य: कुर्यात् त्रिकूटं ब्रह्माद्यैः सेवितं त्रिदशैस्त्रिभिः ।
५७ पृ० ७६	फलं क्रतुसहस्रस्य येन मोक्षं च विन्दति ॥
बुद्धिराम	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
५७ पृ० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥
कैलास	भुक्त्वा भोगांश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम् ।
५७ ९३	शार्वं पदमवाप्नोति शान्तं ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टप	कृत्वा त्रिविष्टपं दिव्यं प्रासादं सुरभूषणम् ।
५७ पृ० ९५	वसेत् त्रिविष्टपे तावद्यावदाभूतसम्प्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्त्वे लयमाप्नोति मानवः ।
क्षितिभूषण	गुणवान् नृपतिर्यद्वद् भूषयत्यखिलां महीम् ।
५७ पृ० ९९	क्षितिं विभूषयत्येवं प्रासादः क्षितिभूषणः ॥
	द्रव्येषु रेणुसंख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत् ॥
विमान	अश्वमेधप्रधानैर्यैरिष्टैः क्रतुशतैर्भवेत् ।
५७ पृ० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानवः ॥
मुक्तकोण	निर्मापयन् नरः कश्चिन्मुक्तकोणं महायशाः ।
५७ पृ० १०६	सम्प्राप्नोति महासौख्यं विमुक्तः सर्वपातकैः ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सर्वकिल्बिषवर्जितः ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोगं मोक्षं च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्र	इमं दिग्भद्रसंज्ञं यः प्रासादं कारयेत् पुमान् ।
६४ १४	शतक्रतुफलं सोऽपि लभते नात्र संशयः ॥
महाभद्र	महाभद्रमिमं योऽत्र कारयेद् भक्तिमान् नरः ।
६४ ७८	स स्वर्गे सुरनारीभिः सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रि	मलयाद्रिरयं प्रोक्तः प्रासादः शुभलक्षणः ।
६५ ३६	य एनं कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकलाः सुराः ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग सुन्दर	सर्वाङ्गसुन्दरं भूप प्रासादमथ सुन्दरम् ।
६५ १३१	भुक्तिमुक्तिप्रदातारं मण्डनम् ॥

टि०—इसी प्रकार का प्रासाद-स्तवन समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु में भरा पड़ा है। यह उपलक्षण मात्र है। वे ही पद्य चुने गये हैं जो इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं।

लोक-धार्मिक

हिन्दू-प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियों को लेखक ने अपने उन्मेष से उद्भावित किया है उनमें लोक-धर्मिणी का एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक-धर्मिणी' इस शब्द-चयन में भारतवर्ष के इस विशाल भू-भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तों तथा उनके अनेक-वर्गीय एवं विभिन्न-भाषा-भाषी मानवों की मौलिक आस्था—भगवद्दर्शन, पुण्य-स्थानावलोकन, तपःपूत-पावनाश्रम-विहरण एवं प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, धाम, आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओं के कूलावास—एक शब्द में 'तीर्थ-यात्रा' से तात्पर्य है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक समुत्थान में, उसकी मौलिक एकता के संरक्षण में तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के सफल प्रयास में तीर्थ-यात्रा ने महान् योगदान दिया है। मन्दिरों की स्थापना में तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एवं पुराण में प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा-माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म ने प्रासाद निर्माण की वह उर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नहीं अनेक नहीं शतश: नहीं सहस्रश: भी नहीं अगणित प्रासादों की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत में इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश में निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी उसके प्रति उतनी ही ममता एवं प्रेम रखते हैं जितनी किसी भी भारत-देश-निवासी की हो सकती है। महाभारत एवं अष्टादश पुराणों की सब से बड़ी सांस्कृतिक देन यही लोक-धर्म है, अतएव हमने इसके मर्म के मूल्याङ्कन में हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि मानी है जितनी अन्य पूर्व-प्रतिपादित पृष्ठ-भूमियों को।

विष्णु-संहिता में प्रासाद पूजा-गृह ही नहीं पूज्य भी है एवं ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय में 'भक्ति' ने बड़ा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म प्रधान-संस्था थी। पौराणिक प्रासाद भक्ति प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद की इसी दृष्टि की दिव्य-ज्योति को देखने वाली विदुषी महिला कुमारी डा० क्रैमरिश का निम्न कथन पठनीय है—

To the pilgrim and devotee who goes to the temple, it is a

Tirtha made by art, as others are by nature, and often it is both in one A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built, it has of necessity to be seen Darsana, the looking at the temple, the seat, abode and body of divinity and its worship (puja) are the purpose of visiting the temple. To fulfil this purpose in addition to bring an offering and work of pious liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form"

इस उद्धरण ने प्रासाद निर्माण-प्रयोजन पर पूर्व प्रतिपादित पूर्त-धर्म में पूर्व संकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो संकेत किया है उस पर वक्तव्य के लिए ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिस के आलोक से आलोकित हो कर मानव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानों का विज्ञान तत्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व-विद्या का मूलमन्त्र ज्ञानाधिगम है। बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। परन्तु यह ज्ञान-मार्ग बड़ा दुःसाध्य है – सर्वसुकर नहीं। सभी तो ज्ञानी नहीं अतः अज्ञानियों को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिए। अग्निपुराण (दे० १०६) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने में न केवल भुक्ति ही प्राप्य है वरन् मुक्ति भी। श्रुति एवं स्मृति, पुराण तथा आगम में प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहुँचने के उपाय हैं। भूलोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुँचने के लिये सोपानों का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकायें एवं सर्वोपर प्रतिष्ठित 'आमलक' साधन एवं साध्य की रूपक-रञ्जना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तात्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिस को पार कर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व में(*साध्य*) में लीन होने का साधन है।

तीर्थ का यह आध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व—मोक्ष का उपाय है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ है (दे० महाभा० अनु० १७०. २-३; १२-१३) परन्तु अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भवसागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेवन ही है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इन को क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना संज्ञाओं से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल में ऐसे स्थानों की संख्या संख्यातीत है—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत्।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता

म० पु० ११०.७

षष्टिकोटिसहस्राणि षष्टिकोटिशतानि च
तीर्थान्येतानि देवाश्च तारकाश्च नभस्तले॥
गणितानि समस्तानि वायुना जगदायुषा॥

ब्र० पु० १७५ ८३

तस्मात्संक्षेपतो वक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च॥
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि॥

ब्र० पु० २५. ७-८

यहाँ पर एक निर्देश यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीयों ने जहाँ-जहाँ ऐसे सुन्दर प्राकृतिक स्थानों को देखा उनमें रमकर वहाँ पर आराधना का स्थान स्थापित किया—मन्दिर या पूजा-गृह का निर्माण आरम्भ किया। इन स्थानों पर जल-योग अनिवार्य रहता था—कोई पुष्करिणी, तड़ाग, सरिता, संगम, समुद्र-वेला आवश्यक रहते थे।

लोक-धर्म एव उसमे तीर्थ-स्थानो की इस औपोद्घातिक समीक्षा में एक तथ्य यह है कि वैसे तो स्मृतिकारो के मत मे तीर्थ-यात्रा सामान्य धर्मों मे एक थी—

क्षमा सत्य दमः शौच दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरु-शुश्रूषा तीर्थानुसरण दया ॥

आर्जव लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मं सामान्य उच्यते ॥

परन्तु कालान्तर मे पुराणो की परम्परा में वह (अर्थात् तीर्थ-यात्रा) अविकल सामान्य-धर्म—लोक-धर्म के रूप मे परिणत हो गयी।

हम जानते ही हैं कि मनु एवं याज्ञवल्क्यादि धर्म-शास्त्रकारो के मत मे तीर्थों का महत्व अत्यन्त ऊचा नहा नही था, परन्तु महाभारत एव पुराण मे तो तीर्थ-माहात्म्य ही महा माहात्म्य है। महाभारत का इस लोक-धर्मिणी संस्था पर निम्न प्रवचन कितना मार्मिक है—

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध बुधांवर ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥

महाभा० वन० ८२. १३-१७

अपि च

पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम् ।
विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत् ॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम् ।
तीर्थं फलप्रदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा ॥

विष्णु-धर्मोत्तर २७३. ७ तथा ८

यहा पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म मे लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा मे भी निष्ठा की आवश्यकता है। तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नही है। महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहादुपावृत्त: सन्तुष्टो येन केनचित् ॥
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रिय. ।
विमुक्त सर्वपापेभ्य स तीर्थफलमश्नुते ॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ॥
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

महाभा० वन० २२६-३२

जो नैष्ठिक नही वे तीर्थ-फल के भागी नही बनते। अत तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक साधना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊचा किये बिना निष्फल है। भाव-नैर्मल्य अनिवार्य है। स्कन्द-पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६ २८ ४५)—

दानमिज्या तप शौच तीर्थ-सेवा श्रुत यथा ॥
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मल ॥

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटोदयोर्मि ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

वामन पु० ४३. ७५

पद्म-पुराण तो इस अर्थ को और आगे बढा देता है (दे० द्वि० ३९, ५६-६१)।

तीर्थों की कल्पना कब उदय हुई? तीर्थों का जलाशय-परक अर्थ है अथवा इसके व्यापक क्षेत्र (wide scope) मे अन्य स्थान भी गतार्थ हैं, कौन कौन से स्थान विशेष प्रशस्त हैं, पुराणो की तीर्थ-सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एव देवालयों की ऐतिहासिक परम्परा का कहाँ तक अक्षुण्ण रक्षण हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिन पर इस उपोद्घात् में सविस्तर वर्णन असभव है, अथच अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय मे लेखक की दृष्टि मे सर्वतोवरिष्ठा पृष्ठ-भूमि तीर्थ है।

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओ मे भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नहीं होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६६.६ तथा १७३.११ एवं चतुर्थ म० २६ २ मे तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७ ११— सुतीर्थ अर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १. ४६.८—अरित्र वा दिवस्पृथू तीर्थे सिन्धूनां रथः—मे तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोषकारो ने माना है—'तीर्थ' योनौ जलावतारे च'— इति हलायुधः)—निदिष्ट है। और आगे बढ़िये तो ऋग्वेद मे ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य-स्थान का बोध होता है—तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्यूमा – ऋ० दशम् म० ३१. ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६. ३७ वीं ऋचा—सुवास्त्वा अधि तुग्वनि- पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और 'तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रंथो मे भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। निम्न अवतरणो का पारायण रोचक होगा—

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति'—

तै० सं० षष्ठ—१ १. १-२

(ii) 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकावन्तो निषङ्गिणः'—

तै० सं० चतुर्थ ५. ११. १-२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यदसन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमदीयात्तादृक् तत्

शा० ब्रा० द्वितीय. ६

(iv) 'ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमामार्त नाम—

शा० ब्रा० १८. ६

(v) 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः' अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'एतद्धै देवानां तीर्थम्' षड्वि० ब्रा० ३. १

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (६. ४) एवं शा० श्रौ० सू० (५. १४. २) आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथो में भी 'तीर्थ' के संकेत है।

ऊपर एक आकूत है 'तीर्थ' शब्द के अभिधेयार्थ मे एकमात्र जलाशय (सरिता आदि) से ही तात्पर्य है अथवा अन्य पावन स्थानो का भी ? इस जिज्ञासा मे हमे पुन प्राचीन साहित्य की शरण मे जाना होगा? ऋग्वेद मे ही जल, सरितायें, पर्वत एव अरण्य भी देवतात्मा के रूप मे परिकल्पित किये गये हैं, अत ये सभी 'तीर्थ' हैं— ऐसा आकूत असङ्गत न होगा। ऋग्वेद के सप्तम म० ४६ वी ऋचा मे दिव्य जलो से रक्षा की अभ्यर्थना—ता आपो देवीर्-इह मामवन्तु—से हम परिचित ही हैं। वहीं पर जल को 'पुनान' कहा गया है। सप्त० म० की ४७ वी तथा दशम की ६ वी तथा ३० वी ऋचाओ मे तो जल मे देवतात्मा का आरोपण कर सम्बोधन है। तै० स० (द्वि० ६ ८ ३) का तो उद्घोष है—

आपो वै सर्वा देवता

अथर्ववेद का जल-विज्ञान, कितना सत्य है, वह निम्न ऋचा मे द्रष्टव्य है—

हिरण्यवर्णा शुचय पावका यासु जात. सविता यास्वग्नि ।
या अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥

इस प्रकार हमने देखा वेद मे जल कितना पवित्र है तो जल-वाहिनी नदिया और भी अधिक सुतरा पावन होगी ही। ऋग्वेद की निम्न ऋचा के अवलोकन से लग भग २० नदियो की सूची प्राप्त होती है और उनका यत्र तत्र यथास्थान सुन्दर सकीर्तन भी प्राप्त होता है —

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥
ऋ० दश० ७५-५-६

इनमे तीन प्रधान नदिया थी—सरस्वती, सरयू तथा सिन्धु। ऋग्वेद मे इन नदियो का बडा सुन्दर गुणगान है। इन्हें देवी और माता के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद मे सरस्वती को—'अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति' कहा गया है। सिन्धु और गङ्गा के समान यह महानदी सरस्वती यदि आज भी होती तो कितना अच्छा होता— सरस्वती का तट बडा पावन था। बडे बडे सत्र इसी पावन तट पर सम्पन्न हुए—ऐसा ऐ० ब्रा० ८ १ का प्रमाण

है—प्रपयो वं सरस्वत्या सप्रमामत। देवल ने तो अपने प्रवचन मे निम्नलिखित कतिपय सारस्वत-तीर्थ माने हैं—

पल्लप्रस्रवणं वृद्धकन्याकं सारस्वतमादित्यतीर्थं कौबेरं,
वैजयन्तं पृथूदकं नैमिषं विनशनं वंशोद्भेदं प्रभासमिति सारस्वतानि।

इस महानदी के विलोप का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भूगर्भ-विद्या-विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदियों की पावनता पर मंथन करने के उपरान्त अब पर्वतों की प्रान्तर उपत्यकाओं को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में पर्वतों की उपत्यकाओं एवं सरिताओं के सङ्गम पवित्र प्रतीत होते हैं

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ सप्तम म० ६. २८

ऋग्वेद में पर्वत का सकीर्तन इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने 'पर्वत' की मेघ के अर्थ में व्याख्या की है, परन्तु षष्ठ म० ४६, १४वीं ऋचा में पर्वत अहिर्बुध्न्य एवं सविता के साथ-साथ स्वाधीन रूप में सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण 'मेघ' ही करते हैं; परन्तु तृतीय म० ३३.१ में तत्कालीन दो महानदियां विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) पर्वतों की गोद में निकलती हुई वर्णित की गयी हैं। यहां पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड़) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जड़ी बूटियों से परिचित था —

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत सर्वाश्च यातुधान्य॥ अथ० ४ ६ ६.

सूत्र-ग्रन्थों (दे० हिरण्याक्ष, गौतम, बौधायन आदि) में पावन प्रदेशों की गणना में सभी पर्वत, सभी सरितायें, सभी पुण्यतोया पुष्करिणियां, ऋषि-आश्रम, देवतायतन आदि सभी पवित्र एवं तीर्थ माने गये हैं। पुराणों में तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरों की पावनता पर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं —

सर्वं पुण्यं हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वतः।
समुद्रगाः समुद्राश्च सर्वे पुण्याः समन्ततः॥ वायु० ७७. ११७
'राजा समस्त-तीर्थानां सागरः सरितां पतिः'
नारदीय (उत्तर) ५८.१६

सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः सर्वे पुण्या शिलोच्चयाः ।
नद्यः पुण्या सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ॥
शङ्ख० ८ १४
सर्वाः समुद्रगाः पुण्या सर्वे पुण्या नगोत्तमाः ।
सर्वमायतनं पुण्यं सर्वे पुण्या वनाश्रमाः ॥ पद्म० ४.८३ ४६
तास्तु नद्यः सरस्वत्यः सर्वा गङ्गा समुद्रगाः
विश्वस्य मातरः सर्वा जगत्पापहराः स्मृताः
ब्रह्माण्ड २ १६. ३६

भागवत (पंच १९ १६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० १६ २०—२३) आदि में भी इसी प्रकार की प्रशंसा है। महाकवि कालिदास (कुमार १ १) भी तो हिमालय को देवतात्मा कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षेत्र में सरिताओं एवं सागरों की ही गतार्थता नहीं, बड़े २ पावन सपूत अरण्य भी महातीर्थ हैं—नैमिषारण्य के माहात्म्य से कौन अपरिचित है? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) में अरण्य को देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण में कुरुक्षेत्र में सात अरण्य बड़े ही पावन एवं पापहर प्रतिपादित हैं—

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ।
येषां नामानि पुण्यानि सर्व-पापहराणि च ॥
काम्यकं च वनं पुण्यं . . . ... ।

अस्तु, विस्तरेणालम्। तीर्थ-स्थानों से तात्पर्य पुण्य-प्रदेशों से है वे नदियां हैं या पुष्करिणियां, सागर हैं कि संगम, वन हैं कि पर्वत—वे सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इच्छा से पूत हो चुके हैं—वे सब तीर्थों के नाम से प्रख्यात हुए। हम जानते ही हैं कि हमारे शरीर में ही कोई-कोई अवयव (जैसे दक्षिण हस्त) अन्य अवयवों की अपेक्षा विशेष पुनीत समझा जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी के नाना प्रदेशों में कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुषमा, अपने अद्भुत प्रभाव, जलाधिक्य अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य के कारण विशेष पूत समझे जाते हैं वे ही तीर्थ हैं। प्राचीनाचार्यों ने लिखा भी है

यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः
तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः ॥
प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥पद्म पु० द्वि० ६२.४६-७

ii मुख्या पुण्य-यात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गत ।
सद्भिः समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते ॥
यद्धि पूर्वतमैं सद्भिः सेवितं धर्म-सिद्धये।
तद्धि पुण्यतम लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षत ॥ स्कान्द-पुराण

अर्थात् धर्म-सिद्धि के लिये सज्जनो से सेवित स्थान को—वह सरिता तट है, पुष्करिणी-प्रदेश है या संगम है अथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या अन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की संज्ञा से पुकारे गये हैं।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटो पर हम विचरण कर सके। विस्तार-भय से अब सक्षेप मे तीर्थों की प्रधान और गौड सूची पर दृष्टि डाल कर इस स्तम्भ को समाप्त करना है। ऊपर के उपोद्घात मे तीर्थों की परिगणना मे सर्व प्रथम नाम नदियो के हैं। नदियो मे गङ्गा (नदीपु गङ्गा) का सर्वश्रेष्ठ पद है। अरण्यो मे नैमिषारण्य, तडागो मे पुष्कर तथा क्षेत्रो मे कुरुक्षेत्र। महाभारत का गान है—

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥ वन प० ८३ २०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहो—दैव, आसुर, आर्ष एव मानुष—म विभाजित करता है। इनमे प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवो के द्वारा प्रतिष्ठापित, द्वितीय असुरो के द्वारा सन्निविष्ट (जैसे गया), तृतीय आर्ष यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा—प्रभास, नरनारायण, बदरिकाश्रम आदि) तथा अन्तिम मानुष—अम्बरीष, मनु, कुरु आदि राजन्यो के द्वारा।

इसी पुराण मे दक्षिणापथ की ६ नदियो तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथीय ६ नदियो—गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है।

नर्मदा—तीर्थों मे 'त्रिस्थली' का माहात्म्य अति पुरातन है। त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग काशी और गया से है। इन महातीर्थों पर बडे बडे पोथे लिखे गये हैं। इनके अपने-अपने अनेक उप-तीर्थ भी हैं। अस्तु, हम सभी इन तीर्थों पर यहा सविवरण वर्णन नही कर सकते। विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणो का पारायण आवश्यक है। इस दिशा मे डा० काणे का महनीय प्रयास बडा ही स्तुत्य है—(see H D Vol IV)। यत यह अध्याय एव इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उस पृष्ठ-

भूमि की ओर संकेत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ-यात्रा के लोक-धर्म मे प्रासादो (मन्दिरो) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एवं अभिन्न अङ्ग बनी, अतः हम उन्ही तीर्थों पर अति संक्षेप में थोडा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनो की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त मे एक तीर्थों की देवतायतन पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे, जो 'हिन्दू प्रासाद' मे पठनीय है।

गङ्गा तीर्थो मे महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महा संस्कृति मे जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ ग्रथो मे अपने-अपने जानपदीय संस्कारो एवं स्व-प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितो ने एक तीर्थ को दूसरे तीर्थ से घटा-बढा कर लिखा है, परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ है जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वर के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओ का परम पावन तीर्थ है। नदियो में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्म्य इसी से प्रगट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी—गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादो विमानो एवं आयतनो का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ—वाराणसी प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

नर्मदा —नदी-तीर्थों में गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इससे प्रकट है कि कही-कही पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्त्व स्थापित है —

> त्रिभि सारस्वत तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्।
> सद्य पुनाति गाङ्गेय दर्शनादेव नार्मदम्॥
> पद्म० आदि० १३ ७, मत्स्य १८६ ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य पुराण (दे० १९४ ४५) तथा पद्म-पुराण (आ० ख० २१ ४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्टक से सागर-संगम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एवं कूर्म मे तो यह संख्या ६० करोड ६० हजार हो गई। भले ही यह संख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसंख्यक तीर्थ एवं मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमें महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्र-तीर्थ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य-तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों मे माहि-

प्मतों की बड़ी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी संकीर्तित है।

गोदावरी—गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा—यह हम सभी जानते है। दण्डकारण्य एवं पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरों का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनपा। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन संज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। ब्रह्म-पुराण की परम्परा में:—

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते ।
उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ॥

ब्रह्म-पुराण में गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है; उनमें त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

कुरु-क्षेत्र —यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एवं महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन सकेत भी प्राप्त है (दे० ऋ० दशम ३३ ४; ऐ० ब्रा० सप्त० ३०, तै० आ० पचम १ १ एव कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्म-क्षेत्र पडा (दे० गीता—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे)। आर्यों की गौरव-गाथा मे कुरुक्षेत्र एव ब्रह्मावर्त दोनो ही भौगोलिक दृष्टि से बडे प्रख्यात हैं। कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनो से प्रतीत होता है यह एक वैदिक सस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ-स्थल—देवा वै सत्रमासत... तेषा कुरुक्षेत्रं वेदिरासीत —तै० आ० प० १ १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरु से पडा। वामन-पुराण का आख्यान है कुरु ने इन्द्र से वर मागा—

यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु व.।
स्नातानां मृतानां च महापुण्यफलं त्विह॥

कुरुक्षेत्र की कितनी सीमा थी और यहा पर कौन-कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—इन सब का अखिल सर्कीर्तन न कर कुरुक्षेत्र के कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानो का नाम सकीर्तन ही पर्याप्त है। इनमे ब्रह्मसर नामक पुष्करिणी प्रख्यात है। व्यास स्थली या व्यास-तीर्थ आधुनिक बसथली, (थानेश्वर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील पर), अस्थिपुर (यही पर महाभारतीय योद्धाओं का अस्थि-सस्कार हुआ था—अतः यथार्थ नाम) के अतिरिक्त यहा पर एक प्राचीन मन्दिर था। कनिंघम के मत मे चक्रतीर्थ इसी की सज्ञा है। पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ सारस्वत तीर्थ) आधुनिक पेहेवा है जो करनाल जिले मे है।

त्रिस्थली—अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एव प्रख्यात क्षेत्रो का यहा सकीर्तन न कर त्रिस्थली—प्रयाग, काशी और गया पर अति सक्षेप मे समाहार कर तीर्थ-सूची से तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी।

प्रयागराज—प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है। प्रयाग पर सर्वप्राचीन सकेत ऋग्वेद के एक खिल मे (दे० म० १० ७५) मे है। पुराणो एव महाभारत मे इस की बडी महिमा गायी गयी है। तीर्थ-राज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये हैं—प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वेणी (त्रिवेणी)। प्रयाग शब्दार्थतः प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र (प्रकृष्ट) + याग (जहा पर)) कहलाया। राज-शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—ऐसा पुराणो का विश्वास है।

काशी—प्राचीनता, पुण्यता एव प्रशस्तता मे काशी की समता इस देश की (और विदेश की भी) कोई भी नगरी नही कर सकती। धर्म-पीठ और विद्या-

पीठ – धर्म-क्षेत्र एवं शास्त्र-क्षेत्र का यह काञ्चन-रत्न-सयोग अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक विशिष्ट एवं विलक्षण शाखा बौद्ध-धर्म का भी यह प्रधान ही नही प्रथम प्रवर्तन-पीठ है।

वाराणसी और काशी का बडा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा०, बृहदारण्यक एवं कौषीतकी उपनिषदो आदि में भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य मे भी काशी के प्राचीन सकेत हैं। महाभारत और हरिवंश मे तो पूरा इतिहास पढने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रथो के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एव प्रख्यात नगर था। पुराणो मे तो पृथुल प्रवचन है।

अस्तु, इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहा अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पाच नाम हैं –वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामो का भी लम्बा इतिहास है। सक्षेप मे काशी—काशते प्रकाशते राजते वा—से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिंग की आधायिका है। वाराणसी म वहा का दो प्राचीन नदियो—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्वविद्या बडी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ मे एक आध्यात्मिक रहस्य पर जाबालोपनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बडा मुन्दर सकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पू छा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप मे उपास्य है, क्यो कि आत्मा अविमुक्त म प्रतिष्ठित है। पुन प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा कहां पर है? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य मे अविमुक्त प्रतिष्ठित है? वरणा और नासी का क्या अर्थ? वरणा सर्वेन्द्रिय-दोषो को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापो को काटने वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनो का स्थान कहाँ ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—भ्रू और नासिका का जो सन्धि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न+विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती के द्वारा यह स्थान कभी भी नही विमुक्त—छोडा गया।

चौथा नाम आनन्द कानन का साधारण अर्थ है क्योंकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहाँ पर उनको बड़ा आनन्द मिलता है। अत आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यों कहा जाता है? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है, 'शान' का अर्थ शयन है। अत जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहा पर शवरूप मे शयन करते हैं, इस लिये इसकी महाश्मशान सज्ञा है। पद्म-पुराण मे शिव ने स्वय कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इस लिये विख्यात है क्योंकि मैं यही से इस सम्पूर्ण जगत का सहार करता हू।

अस्तु, काशी की सबसे बड़ी महिमा बाबा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर मे पुराणो मे भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत मे अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही हैं। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गो की परम्परा एव प्रसिद्धि से हम सभी परिचित हैं, परतु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिंग सर्वश्रेष्ठ है—दे० काशी-खण्ड २६, ३१—'ज्योतिर्लिंग सदेक हि ज्ञेय विश्वेश्वराभिधम्

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य पुण्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थों के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलार्क (सूर्य-मन्दिर जहा पर द्वादशादित्यो की प्रतिष्ठा है) केशव बिन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। आजकल तो पञ्च-तीर्थों मे गङ्गा और असि का सगम दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगगा घाट और गगा तथा वरुणा का सगम प्रसिद्ध है। वाराणसी-तीर्थ-यात्रा मे इन प्रधान पीठो के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रोशी परिक्रमा' का भी बड़ा माहात्म्य है। काशी मे कपाल मोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध हैं। सम्भवत यह मध्यकालीत परम्परा है।

गया—'त्रिस्थली' के दो स्थल प्रयाग और काशी पर इस सक्षिप्त प्रवचनोपरान्त अब गया पर चलो। पूर्वजो की गया करें। वास्तव मे तीर्थ-क्षेत्र एव मन्दिर-पीठ दोनो की दृष्टि से गया का बड़ा महत्व है। प्रत्येक हिन्दू अपने दिवगत पिता की गया करने का अभिलाषी रहता है। बहुसख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते हैं। गया हिन्दुओ एवं बौद्धो दोनो का ही महातीर्थ है। गया और बुद्ध-गया इन दोनो नामो से हम परिचित हैं। बुद्ध-गया पर हम आगे तीसरे पटल मे लिखेंगे। हिन्दू-दृष्टि से गया की सक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है।

वायु-पुराण का गया-माहात्म्य बडा विशद है। गया के इतिहास, पुराण एव नाना उपाख्यानो के इतिवृत्तो एव रूपक-रञ्जनाओ का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इस का प्राचीनतम साहित्य पोषण करता है। 'गय' आर्ष सज्ञा है। ऋ० दशम, ६३ १७ तथा ६४ १७ मे—'असताविं जनो दिव्यो गयेन'—आया है, अत यह आकृत समर्थित होता है। अथर्ववेद (१ १४ ४) मे गय एक जादूगर के रूप से निर्दिष्ट है। वैदिक सहिताओ के असुर, दास, राक्षस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अत. बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर—'गय' पुराणो का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरस्' की तथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणो से भी प्राचीन है। निरुक्तकार यास्क ने—'इदम् विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'—की शाकपूणि की व्याख्या मे प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौः) सकेत के साथ-साथ और्णवाभ की व्याख्या मे समारोहण, विष्णु पद एव गयशिरस् का भौगोलिक सकेत भी दिया है। अपच 'गयशिर' शब्द पर नाना सकेत बौद्ध-ग्रथो मे आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रथ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का सकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वा सर्ग) मे भगवान् बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—ऐसा वर्णन है। वहा पर (दे० १७ वा सर्ग) गया मे स्थित उरुविल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारे ऐसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५ ४०) मे विष्णु-पद की महिमा से उसे श्राद्ध का पुण्य-स्थान माना गया है। समारोहण पयानाम किसी 'प्रान्तार' प्रदेश (किसी पहाडी के उपर समतल भूमि पर स्थित नगर या दुर्ग) से है। सम्भवत फल्गू नदी के निकट पहाडी से इसका परामर्श है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि और्णवाभ का यह 'गयशिरस' सकेत गया से ही है। गया की 'गयशिरस' सज्ञा का पौराणिक आख्यान बडा ही रोचक है। गयासुर नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिस की ऊचाई १२५ योजन तथा परीणाह (मोटाई) ६० योजन था। वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रो वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। अत देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुचे। ब्रह्मा उनको लेकर शिवधाम पधारे। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ। अब विष्णु सब को साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उस की इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मागने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतोवरिष्ठा पुण्यता मागी। देवो ने 'तथास्तु' कहा और स्वर्ग चले गये। अब गया जो

कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यात्मा हो जाता और स्वर्ग पहुंचता। बेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहां भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा के पास पहुंचे। ब्रह्मा यम को साथ लेकर पुन विष्णु के पास गये और कहा आप गयासुर से यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर मांग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा—सिर कोलाहल पर्वत के उत्तर मे और पैर दक्षिण मे। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-सम्भार जुटाये। परन्तु यज्ञ-कार्य मे ब्रह्मा को एक बाधा दिखाई पड़ी। गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवो से उस पर खड़े होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना ना रुका तो बेचारे पितामह पुन पुराण-पुरुष विष्णु के पास गये और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलने से बचाइये। विष्णु ने अपनी 'मूर्ति' देकर कहा जाओ इस को रख दो हिलना बन्द हो जावेगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहा आगये और स्वयं जनार्दन, पुण्डरीक तथा आदि गदाधर के रूप मे, ब्रह्मा प्रपितामह पितामह फल्गवीश, केदार और कनकेश्वर के पांच रूपो मे, विनायक गणेश गजरूप मे तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी, सीता, गौरी (मङ्गला) गायत्री सरस्वती भी सभी अपने अपने नाना रूपो मे उस शरीर पर सवार हो गयी। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई – इस तरह उसे क्यो धोखा दिया गया? जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुन इस सब लाद से क्या प्रयोजन? उस पर भी विष्णु ने अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर) देवो ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मागने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया-क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर ने वर मागा – "जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तारागण का अस्तित्व है, तब तक ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम मे विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च-क्रोश परिमित गया-क्षेत्र एव क्रोशैक परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य मे केन्द्रित रहे। सभी देवगण अव्यक्त (पद-चिह्नादि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप मे विराजमान रहें। जिन को यहां पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्रह्मलोक जावें और ब्रह्म-हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहां नाश हो जावे"। देवो को तथास्तु कहना पड़ा।

गया के पुराणमाख्यानम् पर इस संक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्राह्मणों की दुर्दशा पर कुछ अश्रुकणों का पात अवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणों को दे डाला ; यहा पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धियां थी। 'असन्तुष्टा: द्विजाः नष्टा:' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहाँ के ये ब्राह्मण बड़े लालची थे। उनका पेट नही भरा। उन्होने धर्मारण्य मे धर्मराज के नाम पर बड़ा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मांगी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बड़े क्रुद्ध हुए और आ कर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्राह्मण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियों के द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिणा के अतिरिक्त और कोई सहारा नही।

अन्त मे गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वल्प संकीर्तन अपेक्षित है। गया-तीर्थों की संख्या काफी बड़ी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त हैं, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बड़ा है जो भगवान् विष्णु के पद–चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाड़ी पर है जो फल्गु नदी के पश्चिम पार्श्व मे स्थित है। गया मे लगभग ४५ श्राद्ध -वेदियां हैं जिनमे पांच प्रमुख हैं – प्रेत-शिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्मान्कुण्ड तथा काक-बलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त अनेक परिमित गय-क्षीर्ष के मुण्ड-पृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाबोधि तरु' हिन्दुओं के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धों के लिये – गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ है।

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बड़ा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है, विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'। कहां तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में तीर्थ-माहात्म्य की लोक-धर्मिणी संस्था का मूल्याङ्कन करने चले थे वहाँ वह स्वयं महा प्रासाद के रूप में इतनी ऊंची उठ गयी। वास्तव मे हिन्दू संस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान् है वही महतो महीयान् बन जाता है

अस्तु, ग्रन्थ-विस्तार-भय से अब यह विवरण संकोच्य है। परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एवं महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास मे पुण्यनगरियों की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है.—

अपने घर ले जाते हैं। यहा की रथ-यात्रा सब महोत्सवो की शिरोमणि है। आषाढ शुक्ल द्वितीया मे यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीनो—कृष्ण, सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सलाञ्छन रथ चलते हैं जो यात्रियो के द्वारा खीचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती हैं और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथ पुरी मे भी पाच प्रधान तीर्थ है—मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्ड:—

मार्कण्डेय वट कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम।
इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधि स्मृत.॥ ग्र० ६०. ११

जगन्नाथ के मन्दिरो पर आगे के पटल मे समीक्षा होगी अत इस धाम की इस पूर्व-पीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१ १८. २१-२४) का प्रवचन है —

पृथिव्यां यानि लिंगानि तेषां सख्या न विद्यते।
सौराष्ट्रे सोमनाथ च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम।
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारे परमेश्वरम्॥
केदार हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथ चिताभूमौ नागेश दारुकावने।
सेतुबन्धे च रामेश कृष्णेश च शिवालये॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय य पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफल लभेत्॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओ एव नाना सम्प्रदायो के अनुरूप इस देश मे अगणित पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठो की प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा-विज्ञान'—इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बार्हस्पत्य सूत्र' (सू० ११६-१२६) वैष्णवो शैवो एव शाक्तों के आठ आठ पावन क्षेत्रो का निर्देश है, जिनका अवतरण विशेष आवश्यक नहीं।

अस्तु अगणित तीर्थों की तालिका अब यहा नही लाई जा सकती है। अन्त

राजेन्द्रलाल मित्र (See Antiquities of Orissa) का आकूत है—पुरषोत्तम-क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालो मे विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल (*Vaisnava perind*)। प्राचीनतम हिन्दू काल का कुछ आभास ऊपर की पौराणिक वार्ता से प्राप्त हो सकता है। बौद्ध-काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल(उडीसा) मे अशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाडी), एव खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पाच मील की दूरी पर है) के बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरो के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव मे जगन्नाथ की रथ-यात्रा (Car- procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (processon of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एव जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्ति-त्रय-परम्परा (दो भाइयो के साथ बहन)पर बौद्ध-धर्म के त्रिक—बुद्ध,धर्म एव सघ—का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एव सहिष्णु समय का उद्घोष करता है जब शैवो एव वैष्णवो के पारस्परिक सौहार्द की सरिता बह निकली थी। जगन्नाथ के प्रासाद प्रधान के अतिरिक्त वहा पर १२० मन्दिर और हैं जिनमे १६ तो शिवालय ही हैं। सूर्य-मन्दिर भी हैं। हिन्दू-धर्म के प्राय सभी सम्प्रदाय यहा पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुओ का चार धामो मे यह एक अन्यतम धाम है। ब्रह्म-पुराण (५६ ३४-६६ तथा ६६-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितने सार्थक हैं —

> शैवभागवताना च वादार्थप्रतिषेधकम्।
> अस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे।
> शिवस्यायतन देव करोमि परम महत्।
> प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शङ्करम्।
> ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ।
> प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्तं महामुनिम्॥
> .. ...
> नावयोरन्तर किञ्चिदेकभावौ द्विधा कृतौ॥
> यो रुद्रः स स्वय विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र नही। यहा पर छुआछूत का भेद बिलकुल नही। यहा का भात ही पावन प्रसाद है। सभी उसे निस्सकोच स्वीकार करते हैं। यह 'महाप्रसाद' सुखाकर लोग अपने

मूल-सिद्धान्त

में घोषोद्घाटित उस महातथ्य का माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव में सत्य-भूमि तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ-भूमि—धर्म-भूमि है। पद्म-पुराण (द्वि० ३९ ५६-६१) का प्रवचन है—'जहाँ अग्निहोत्र एवं श्राद्ध की जाती है, जहाँ देवायतन स्थित है, जिस घर में वेद-पाठ होता है, जहाँ गौयें रहती हैं, सोमपायी जहाँ निवास करते हैं, जिस स्थल पर पर अश्वत्थ उगा है, जहाँ पुराण का पारायण होता है, जहाँ अपना गुरु रहता है, जहाँ सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लड़का रहता है—वे सभी तीर्थ-भूमियाँ हैं।''

अस्तु, हमने अपने—'हिन्दू प्रासाद'—Hindu Tepmle में लगभग २२०० तीर्थों की तालिका प्रस्तुत की है, वह यहाँ पाठनीय है। अन्त में इतना ही पर्याप्त है कि भगवान् वायु (दे० वायुपुराण) का कथन है कि तीर्थों की संख्या साढ़े तीन करोड़ है। अतः तीर्थ-माहात्म्य ही ने हिन्दू प्रासाद का यह प्रोल्लास प्रदान किया है।



मूल-सिद्धान्त

१. प्रासाद-पद की व्युत्पत्ति

२. प्रासाद स्थापत्य तथा राज प्रासाद स्थापत्य (Temple-architecture & Palace-architecture)

३ प्रासाद शैलियां

४. प्रासाद निवेश एव प्रासाद-विन्यास

५. प्रासाद-प्रतिष्ठा एव मूर्ति-न्यास

प्रासाद-निवेश

प्रासाद-स्थापत्य का शास्त्रीय विवेचन

प्रासाद का अर्थ—अमरकोष मे प्रासाद की परिभाषा वास्तव मे पारिभाषिक नही—"प्रासादो देवभूभुजाम्"—अर्थात् प्रासाद अर्थात् महल या मन्दिर राजाओ एव देवो दोनो के लिये सज्ञापित है—यह परिभाषा एक प्रकार से साधारण है, जो काव्यो, नाटको एव अन्य ग्रन्थो मे मिलती है।

प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति ही इस परिभाषा को काट देती है—' सदन साद अर्थात् इष्टिकाओ अथवा शिलाओ का सादन, वैदिक चिति का प्रारम्भ करती है। प्रकर्षेण सदन सादन वा यस्मिन् स प्रासाद प्रकर्ष का अर्थ यहा पर मन्त्रादि-नाना उपचार पुरस्सर अभिषेक आदि एव परीक्षणादि मन्त्र-पूत इष्टिकाओ एव शिलाओ के निवेश से वैदिक याग का श्रीगणेश सर्वप्रथम चिति से प्रारम्भ होता है। चिति से ही आगे चैत्य बना जो नरावास नही थे। चैत्य भी बौद्धो के लिये उतने ही पूज्य एव उपास्य बने जैसे आगे चलकर ब्राह्मणो के लिये मन्दिर।

वैदिक चिति या यज्ञ वेदी हिन्दू प्रासाद की जननी बनी। जिस प्रकार यज्ञ को नारायण (यज्ञ-नारायण) के रूप मे प्रकल्पित किया गया, उसी प्रकार प्रासाद को पुरुष (विराट-पुरुष) के रूप मे प्रकल्पित किया गया। निम्नलिखित उद्धरणो से पाठको को बहुत कुछ प्रासाद शब्द की सच्ची व्युत्पत्ति तथा उसका अभिधेयार्थ— सत्यत बोधगम्य बन सकेगा। पुराणो मे अग्निपुराण का तन्त्रो मे हयशीर्ष-पचरात्र का, शिल्पग्रथो मे समरागण-सूत्रधार एव शिल्प-रत्न का तथा प्रतिष्ठा-ग्रथो मे ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति आदि के जो पुष्ट प्रवचन उद्धृत किये गये हैं वे निम्न पठनीय हैं—

'प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेद निबोध मे।
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाश शुषिरात्मकम् ॥
तेजस्तत पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगत तथा।
पाषाणादिष्वेवं जल पार्थिव पृथिवीगुणम् ॥
प्रतिशब्दोद्भव शब्द स्पर्श स्यान् कर्कशादिकम्'
शुक्लादिक भवेद्रूप रसमन्नादिदर्शनम् ॥
धूपादिगन्ध गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु सस्थिता।
शुकनासश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ॥

शिरस्त्वण्डं निगदितं कलसं मूर्द्धजं स्मृतम् ।
कण्ठं कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्ध वेदी निगद्यते ॥
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्त्तिता ।
मुख द्वारं भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ॥
तच्छक्तिं पिण्डिकां विद्धि प्रकृतिञ्च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः ॥
एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः
जंघा त्वस्य शिवो ज्ञेय. स्कन्धे धाता व्यवस्थितः ॥
ऊर्ध्व भागे स्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि ।
सर्व तत्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्कारी तनुः '।
'तद यथावस्थितं कथयामि निबोधत ।
पायूपस्थौ प्रणालौ द्वौ नेत्रौ ज्ञयौ गवाक्षकौ ।
सुधा भुग्न (—?) पित्तीज्ञेयास (च) स्रो मञ्जरीकोर्ध्व तः॥
जंघा-जंघा तु विज्ञेया वरण्डी वसना मता ।
शुकाग्रात्तु भवेन्नासा सूत्राणि विशेषतः ।
गर्भः स्थिरत्वे विज्ञेयो मुखं द्वारं प्रकीर्तितं ।
कपाटौष्ठपुटौ ज्ञेयौ प्रतिमा जीवमुच्यते ।
स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठ कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमालास्थितं ज्ञेयं———चूल संस्थितं ।
एवमेष रविः साक्षात् प्रासादस्थेन संस्थितः ॥
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्करःस्मृतः ।'
'प्रासाद पुरुष मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तमः ।
प्रपद पादकं विद्याच्छिला स्नूपीति कथ्यते ।
लोहकीलकपत्रादि सर्वं दन्तनखादिकम् ।
सुधां शुल्कं त्विष्टिकौघमस्थि मज्जा च पीतरुक ।
मेदः श्यामरुचिस्तद्वद् रक्त रक्तं-रुचिस्तथा ।।
मांस मेचकवर्णं स्याच्चर्म नीलं न संशयः ।
त्वक् कृष्णवर्णं-मित्यत्याहुः प्रासादे सप्तधातवः ।'
'प्रासादं लिंगमित्याहु-स्त्रिजगल्लयनाद यतः ।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता ॥'
'प्रासादं यच्छिवशक्त्यात्मिक तच्छ्रुत्यन्तैः स्वाद् वसुधाद्यै स्तु तत्वैः ।
शैवी, मूर्तिःखलु देवालयाख्येत्यस्माद् ध्येया प्रथमं चाभिपूज्या ॥'

ये सब इस नवीन उन्मेष को सार्थक एवं समर्थित करते हैं।

प्रासाद स्थापत्य पर बहुत से योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने कलम चलाई है। प्रासाद अर्थात् देव मन्दिर अर्थात् (Hindu temple) के आविर्भाव के सम्बन्ध में नाना अटकल इन लोगों ने लगाये हैं। प्रासाद के जन्म की कई लोगों ने Mound Theory, Umbrella Theory या Stup Theory गढ़ी है, वे पूर्व निर्दिष्ट उद्धरणों से निर्थक सिद्ध हो जाता है।

सत्य यह है कि आधुनिक विद्वानों और लेखकों ने यह नहीं समझा कि हमारी सारी कला क्या काव्य, क्या नृत्य या नाटक क्या संगीत क्या आलेख्य साथ ही साथ वास्तु और शिल्प भी—ये सभी कलाएं दर्शन की ज्योति से ही अनुप्राणित हैं। दर्शन-विहीन भारतीय कला स्थाणु के समान निष्प्रभ अथवा शुष्क ही है। इस में सन्देह नहीं कि विश्व के सभी साहित्यकारों तथा कलाकारों ने किसी भी काव्य, साहित्य अथवा कला को आनन्द-रहित नहीं माना, परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण में आनन्द के सम्बन्ध में महान् अन्तर है। भारत ने इस सिद्धान्त में ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की परिभाषा दी गई है, और रसो वै सः—वैदिक कालीन देन है। इसी लिये हमारे मनीषियों ने और ऋषियों ने इस शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म का साक्षात्कार कर इन कलाओं में भी ब्रह्म की स्थापित किया है। वास्तु-पण्डित तथा शिल्प-कोविद् भी पीछे नहीं रहे। शिल्पाचार्यों ने भी वास्तु-ब्रह्म की भी केवल कोरी कल्पना ही नहीं की वरन् पाषाण, इष्टिका एवं मृत्तिका के पुञ्जी-भूत रूप को अर्थात् साकार रूप की निराकार में परिणत कर दिया है। इस अध्ययन में हम प्रासाद के प्रमुख अंगों एवं उपांगों का वर्णन करेंगे, जिससे हमारी यह धारणा पूर्ण पुष्टि को प्राप्त करेगी।

प्रासाद-स्थापत्य तथा राज-प्रासाद-स्थापत्य (Temple architecture & Palace-architecture—इस उपोद्घात के अनन्तर इस मूल-भूत अवतारणा में विपरीत दिशा में जाते हुये भी हमें कुछ तर्क-युक्त व्याख्या करनी है। यह मेरा अध्ययन केवल समरांगण सूत्रधार पर आधारित है। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवन को राज-प्रासाद के नाम से नहीं पुकारा गया है। राज निवेश अथवा राज-गृह के नाम से दो अध्यायों में राज-भवनों का वर्णन किया गया है, तो फिर इस भाग में देव-प्रासाद के साथ राज-भवनों को कैसे एकत्र लाया जा सकता है? इस का उत्तर इतिहास देता है, जिस पर आज तक किसी विद्वान् ने न सोचा न लिखा। हमारी प्राचीन परम्परा थी कि जनावासों में अर्थात् साधारण जनों के घरों में जहां तक दीवाल और खम्भों की रचना का

सम्बन्ध है वह कभी भी पाषाण अथवा शिला अथवा पक्की ईंट से नहीं बनाना चाहिये। निम्न उद्धरण पढिए —

शिलाकुड्य शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत—कामिकागम

यह परम्परा अति प्राचीन थी। अतएव प्राचीन काव्य ग्रन्थों जैसे रामायण आदि तथा सूत्र-ग्रन्थों में साथ ही साथ इतिहास-ग्रन्थों में देव-कुल, देवागार, धिष्ण्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ, क्यों कि देव-स्थान इन्हीं जनावासों में एक पृथक् एकान्त स्थान में बनाये जाते थे। कालान्तर पा कर महाराजों, अधिराजों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, धनियों मानियों एवं दानियों के द्वारा मन्दिर निर्माण का श्रीगणेश हुआ। मन्दिर की परिभाषा विश्व-कर्मा वास्तु शास्त्र में पाषाण निर्मित भवन देव-भवन के लिये दी गई है। तभी से ये प्रासाद बनने प्रारम्भ हुये हैं। शनै शनै देवों के लिये पाषाण-विनिर्मित आलय बनने लगे, जो मन्दिर कहलाए। इस रचना में पहिली श्रेणी चिति के रूप में, पुनः पट्टिकामयी (Dolemen) रचना में, उस के अनन्तर छाद्य एवं मण्डपाकार देव-भवन उदित होने लगे—यह सब मौलिक भित्ति (शास्त्रीय सिद्धान्तों) पर आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य (Temple-architecture) पर आगे विवेचन करेंगे।

जहां तक मध्यकालीन प्रासाद-स्थापत्य-वैभव सम्पन्न हुआ—जैसे शिखर-मय, स्तूपिका-मय, भौमिक, सान्धार, निरन्धार, बहुभूमिक अनवाण्डक, पञ्चायतन-पुरस्सर—वे सब वास्तव में प्रासाद-परिभाषानुगत स्थापत्य कला के निदर्शन हैं—यह सब तत्रैव पठनीय है।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में लयन-प्रासादों, जिनको हम आधुनिक भाषा में गुहा-मन्दिर Cave Temples कहते हैं, वे कितने प्राचीन हैं, यह सब हम जानते ही हैं। समरांगण-सूत्रधार में इन प्रासादों की पारिभाषिक संज्ञा 'लयन' अथवा 'गुहाधर' अथवा 'गुहराज' के नाम से दी गई है। मेरी दृष्टि में शिलामय प्रासादों का विकास दो हजार वर्ष से अधिक नहीं माना जा सकता। पुरातत्वीय अन्वेषणों, अनुसन्धानों तथा नाना शिला लेखों एवं अनेक अन्य सम्भारों से यह भी पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि लगभग तीन हजार वर्ष पहले दारुज अथवा दारव(Wooden temples), मार्तिक एवं पट्टिज अर्थात् (mud-temples and cloth-or-material Temples) प्रासादों की भी परम्परा थी। समरांगण-सूत्रधार अध्याय ५६ वें —परिमार्जित ७१ वें —में हर्म्य, वेणुक, पट्टिश तथा विभव एवं तारागण आदि नामों से इनकी संज्ञा उपश्लोकित की गई

है। इन थोडे से उदाहरणो के द्वारा प्रासाद स्थापत्य का यह ऐतिहासिक तथ्य —कि सर्वप्रथम वस्त्रमय, मृण्मय, तदनन्तर काष्ठमय और अन्त मे पाषाणमय पल्लवित, विकसित एव प्रवृद्ध हुए। यह सब द्वितीय खण्ड अनुवाद मे पठनीय है। जहा तक शिखरोत्तम प्रासादो एव भौमिक विमानो का प्रश्न है उनकी समीक्षा हम इस अध्ययन से पृथक् करेंगे। परन्तु प्रासाद वास्तु के जन्म एव विकास मे जहा वैदिक चिति (यज्ञवेदी) ने मूल प्रेरणा प्रदान की है, वहा लौकिक परम्परा ने भी एक महान् योगदान दिया। आरण्यक पूजा-गृहो ने प्रासाद-वास्तु की विच्छित्तिया, शोभाओ तथा अलकरणो मे सत्यनारायण-कथा-मडप (Tabernacle) विशेष उल्लेखनीय हैं। अरण्य-वासी ईश्वराराधन मे जगल की नाना लताओ विशेषकर वणु-पल्लवो, उनकी यष्टिकाओं एव लगुडो से मडप निर्माण करते थे तथा पल्लवो की झालरो से सजाते थे पुन नाना उपचारो से उस मडप म प्रतिमा प्रकल्पित कर उस की पूजा करते थे। इन्ही झालरो को वन्दनवार के नाम म हम आजकल भी पुकारते हैं। किसी मध्य-कालीन प्रासाद अथवा विमान क मध्य कलेवर को देखें तो उनके मुख-द्वार तोरणो, सिहकर्णों वितानो लुमाओ आदि से शोभागार प्रतीत होते है। इनकी मूल भित्ति मे ही आरण्यक वन्दनवार विच्छित्तिया है। शिल्प-ग्रन्थो म द्वारो की शाखाओ के त्रिशाख द्वारो से लेकर नव शाखद्वारो के वणन मिलते हैं और वे हूबहू इन स्थापत्य-निदर्शनो मे भी प्राप्त होते है। यह सब विवरण विशेष कर मध्य कालीन शिल्प ग्रन्थो म भरे पडे है।

इस थोडी सी व्याख्या के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य के उपोद्घात म हमने राज-प्रासाद एव देव-प्रासाद के विरोधाभास की ओर जो सकेत किया था उसका परिमार्जन यही ऐतिहासिक तथ्य निराकरण कर देता है। जब देवो के आलयो मे शिलाओ एव पाषाणो का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो उपर्युक्त पौराणिक एव धार्मिक आदेश शैथिल्य को प्राप्त हो गया और इसका सब से पहले लाभ राजाओ ने उठाया। उस का कारण यह था कि प्रासाद-राज अर्थात् प्रासाद-प्रतिष्ठित देव राज (Spiritual and temporal authority) के दोनो रूपो मे जब प्रतिकल्पित किये गये तो (Temporal authority) राजाओ मे तो सनातन से हमारे देश मे निहित थी ही। जिस प्रकार से ईशान, चन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल दिक्पाल प्रकल्पित किए गये तो उसी प्रकार राजा भी एक प्रकार से पाचवा लोकपाल परिकल्पित किया गया। ग्यारहवी शताब्दी का पवित्र वास्तु-ग्रन्थ समराङ्गण-सूत्रधार भी इसी तथ्य का समर्थन एव पोषण करता है,—

पञ्चमो लोकपालानां राजाधिपतमो मतः

अतएव मेरे लिये एक समस्या उपस्थित हुई कि समराङ्गण-सूत्रधार के इस परिमार्जित संस्करण मे (तीन खण्ड—भवन, प्रासाद एवं चित्र यन्त्रादि) मे राज-निवेश एवं राज गृह को कहा रक्खें। अतः बाध्य हो कर प्रासाद स्थापत्य मे शास्त्र-दृष्टि से राजहर्म्य अर्थात् राज-प्रासाद-स्थापत्य को एक साथ नहीं ला सके।

विद्वानो मे ऐकमत्य नही कि मन्दिर शिल्प राज-भवन का अग्रज है अथवा अनुज है। इस पर हम कुछ प्रकाश राज-निवेश एवं राजसी कलायें—शीर्षक पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ मे कर ही चुके हैं। यहा पर इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि राज-भवन के अग्रज शिल्प-दृष्टि से देव-प्रासाद हैं। तथापि राज-भवन-विन्यास मे तीन मिश्रण प्राप्त होते हैं – प्रासाद वास्तु जैसे शृंग एवं शिखरादि, भवन-स्थापत्य अर्थात् शालाओ एवं अलिन्दो का बहुल-विन्यास तथा मौलिक आवश्यकतानुरूप रक्षा व्यवस्था द्वार-महाद्वार-प्रतोली-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि विन्यासो के साथ नाना राजकीय निवेश एवं राजोचित उपकरण—सभा, गजशाला, अश्वशाला, क्रीडागारादि—ये सब राज प्रासाद के समीक्षण मे प्रस्तुत किये जा चुके है—देखिये राज-निवेश एवं राजसी कलायें—स० सू० भाग द्वितीय। हम अपनी दृष्टि आदान-प्रदान से, तिरोहित नही कर सकते। अतएव वह युग, जब प्रासाद निर्माण का चरमोत्कर्ष काल था, तब वैदिक दृष्टि का ह्रास हो चुका था और पौराणिक पूर्त-धर्म ने दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम सर्वत्र इस महादेश म अपनी ध्वजा फहरा दी। पूर्त-धर्म का सर्वप्रमुख अङ्ग देवालय निर्माण ही था। देवालय-निर्माण की व्यवस्था म वापी, कूप, तडाग एवं आरामादि का सन्निवेश भी एक प्रकार से अनिवार्य अग हो गया था। अतएव दक्षिण भारत के विमान-प्रासादो के दर्शन करें वहा ये सब सम्भार एवं विन्यास प्रत्यक्ष दिखाई पडते है।

प्रासाद शैलियां —भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को विद्वानो (पूर्व सूरियो ने) द्राविड, नागर और वेसर मे विभाजित किया है। परन्तु जहा तक द्राविड का सम्बन्ध है, वह भौगोलिक विभाजन अवश्य सगत है, परन्तु नागर और वेसर भूगोलानुरूप सगत नहीं। पुराणो मे (देखिये नागर खण्ड) नागर पूरे उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व नही करता। हमने अपने अनुसन्धान से नागर शब्द की परिभाषा मे, समराङ्गण के अनुसार, नागर के अर्थ को समझने का यत्न किया है। यह नागर शब्द, नगर एवं नग अर्थात् पर्वत से विकसित हुआ है। साथ ही साथ वात्स्यायन के कामसूत्र से भी जो नागर अर्थात् शिष्ट समाज अथवा व्यक्ति (cultured society or citizen) पर सकेत मिलता है (देखिये

चतुष्षष्टि कलाओं का नागरिकों के द्वारा सेवन) इन तीनों को ही लेकर समराङ्गण सूत्रधार मे प्रासादो के विकास पर प्रवचन प्राप्त होते है वे ही इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण है।

'नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पयत' ।

जहां तक वेसर का सम्बन्ध है उसे भौगोलिक मानना बिल्कुल भ्रान्त है। मानसार मे नागर, वेसर और द्राविड की जो निम्न परिभाषा दी गई है वह भी भ्रान्त है—

नागर चतुरश्र स्यादष्टाश्र द्राविड तथा
वृत्त च वेसर प्रोक्त .... ॥

उत्तर भारत मे नाना प्रासादो की आकृतिया नाना है वे एकमात्र चतुरश्र नही हैं। बहुत से गोल हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत मे अनेक प्रासाद चौकोर हैं क्या वे सब अष्ठकोण हैं। बडे अध्यवसाय, अनुसधान एव चिन्तन के बाद हमने वेसर का जो अर्थ निकाला है वह वास्तव मे अत्र विद्वानो की समझ मे आ सकेगा। चू कि बहुत से लेखको ने वेसर को सस्कृत का तत्सम शब्द माना है और वेसर का अर्थ है सस्कृत मे खच्चर और दूसरा नासिका-भूषण जो गोल होता है। अतएव किसी न इस का अर्थ मिश्रित शैली माना अथवा इस शैली के प्रासादो को गोल माना है।

आकरानुरूप वेसर प्रासादो को हम इस प्रकार का समीक्षा पर ला सकते है—द्वि+अस्र-द्वयस्र-वेसर—इस प्रकार से यह शब्द तत्सम न होकर तद्भव है।

अब रही वावाट भूमिज और लाट आदि शैलिया—इनमे लाट से सम्बन्ध गुजराती शैली से है—लाट का अर्थ गुजरात है। तथापि यह शैली नागर शैली मे ही विकसित हुई। इसकी सर्व-प्रमुख विशेषता अलवृति है जो मोधारा के सूर्य मन्दिर से सर्वथा पुष्ट होती है। वावाट भी मेरी दृष्टि मे वेसर के समान ही तद्भव है। यह पद 'वावाट' वैराट का अपभ्रश है। वैराटी द्राविडी शैली का ही अवान्तर विकास है। मैसूर के मन्दिर इस वैराटी शैली के समर्थक एवं निदर्शन है। रही भूमिज की बात यह पद बडा ही सदिग्ध सा प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे आसाम और बगाल मे पूर्वोत्तर मध्यकाल मे भौम राजा राज्य करते थे। इन भूमिज प्रासादो मे समराङ्गण की दिशा मे अष्टस्थान, प्रासादो का वर्णन है जिनमे वृक्ष जातीय प्रासादो का विशेष अनुरूप प्रतीत होता है। साथ ही साथ इनमें रेखा-वर्तना भी स्थापत्य-कौशल का एक प्रमुख अग माना गया है। अत भौम राजाओं के काल में ही इन भूमिज प्रासादो का उदय हुआ। पूर्वीय प्रदेशो के निवासी ब्राह्मणो को भूमिहार-ब्राह्मणों की सज्ञा से आज भी

उपश्लोकित किया जाना है। अतएव मेरा यह प्रयास विद्वानों की दृष्टि में अवश्य कुछ अर्थ रख सकेगा।

जहा तक द्राविड शैली का सम्बन्ध है उनकी निवेश-व्यवस्था का पहले ही सकेत कर चुके हैं जो एक प्रकार से मन्दिर-नगर (Temple cities) में परिणत हो गये हैं क्योंकि प्राकार, गोपुर, शालायें, परिवार, मडप, (शतमडप, सहस्र-मडप, नाट्य-मडप) यात्रियों के, सन्यासियों के, परिव्राजकों के, दर्शनार्थियों के लिये नाना शालाए निवासालय के अनिवार्य अग माने गये हैं। अतएव उत्तर भारत के मन्दिरों और दक्षिण के मन्दिरों में बड़ा अन्तर है जो स्मारक-निदर्शन से पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा यह सब आगे विस्तारणीय होगा।

प्रासाद निवेश एवं प्रासाद विन्यास—प्रासाद-निवेश एक-मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद के मूलाधारों पर पीछे कुछ प्रकाश डाला गया ही है। 'प्रासाद' पद की जो व्याख्या एवं समीक्षा की गई है उससे स्वत यह सिद्ध है कि प्रासाद-निवेश एक मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद को हमने निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप प्रतिपादित किया है। हमने यह भी कुछ इंगित किया ही है—जिस प्रकार मन्दिर में प्रतिष्ठापित देवता पूज्य है, उसी प्रकार प्रासाद भी पूज्य है। प्रासादों की जो दो विशिष्ट निमितियों पर हमने सकेत किया है—निरन्धार तथा सान्धार अर्थात् एक प्रकार के वे मन्दिर या प्रासाद जो केवल एक-भवन (One shrine) के रूप में ग्रामे ग्रामे बने हुये शिवालय प्राप्त होते हैं, वे निरन्धार अर्थात् बिना प्रदक्षिणापथ के रूप में विभावित होते हैं। दूसरी कोटि में आते हैं सान्धार अर्थात अन्धारिका अथवा अन्ध-कारिका या भ्रमन्ती या प्रदक्षिणा-पथ के सहित गर्भ-गृह वाले प्रासाद-मन्दिर ie the main shrine with circum-ambulatory passage यत न केवल प्रासाद मे प्रतिष्ठापित देव-प्रतिमा ही पूज्य है वरन् प्रासाद-गर्भ मूल-भवन भी पूज्य है। अतएव प्रासाद भी पूज्य एवं प्रदक्षिणा के योग्य है। प्रासाद की व्युत्पत्ति के प्रथम स्तम्भ में जो अनेक उद्धरण हयशीर्ष-पचरात्र, अग्नि पुराण, समरागण-सूत्रधार तथा ईशान-शिवदेवगुरु-पद्धति आदि से प्रस्तुत किये हैं, वे पूर्ण रूप से प्रासाद पद की कितनी ब्रह्म के समान व्यापकता, विराट् पुरुष के समान विशालता एवं देवत्व का पुञ्जीभूत मूर्तरूप, स्वर्गारोहण का परम सोपान, मानव एवं देव का मिलन-बिन्दु,—अध्यात्म का परम निष्यन्द—ब्रह्माण्ड एवं अण्ड, जगत एवं जीव macrocosm and microcosm का तादात्म्य सभी इस प्रासाद-प्रतिमा में प्रत्यक्ष दीप्यमान, आभासित एवं प्रत्यवसित

प्रतीत होता है। अतएव इस प्रकरण मे प्रासाद-निवेश के कुछ विशेष अगो जैसे उद्देश्य, कर्तृ कारक-व्यवस्था, आकार-व्यस्था, भूषा व्यवस्था प्रतीक-कल्पना, उपचार-विनियोग, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि पर समीक्षा अभिप्रेत है। तदनुकुल अब हम इस स्तम्भ को स्वल्प व्याख्या मे ही सम्पन्न करना चाहते हैं। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थ Vastusastra vol I—Hindu science of Architecture मे द्रष्टव्य है।

प्रासाद-निवेश—प्रासाद यथापूर्व-निर्दिष्ट एवं प्रतिपादित वास्तु दृष्टि से भी एक महान् तथ्य की ओर इंगित करता है। भारतीय स्थापत्य मे छन्द सिद्धान्त बडा ही महत्वपूर्ण है। भवन का आकार ही भवन का मर्म प्रतिपादित करता है। भारतीय वास्तु-शास्त्र मे छन्दो की सख्या वैसे तो ६ दी गई है—मेरु, खण्ड-मेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट एव नष्ट। जहा तक प्रथम चार की बात है वे तो छन्द ही है परन्तु अन्तिम दोनो छन्द तो नही केवल भवन-विन्यास के प्रस्तर घटक हैं। इन दोनो की उपादेयता पर हम अपने भवन निवेश मे काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब रही इन मेरु आदि चार छन्दो की बात उन पर भी हमने यथानिर्दिष्ट उपर्युक्त अग्रेजी ग्रन्थ मे भी काफी विवेचन किया है। यहा पर हमारा तात्पर्य प्रासाद के वास्त्वाकार से है। भारतीय स्थपतियो ने मन्दिर के आकार को पीठ या जगती से प्रारम्भ कर आमलक मे क्यो प्रत्यवसायित कर दिया है। यह सब एक प्रकार की रचना नही है। यह मूर्त एव अमूर्त, जगत एव ब्रह्म, जीव एव ईश्वर का एक ही आधार पर लाने की चेष्टा की है। वैसे तो प्रासाद अर्थात मन्दिर देव-स्थान, देवावास, देवकुल है, परन्तु वास्तव म दार्शनिक दृष्टि मे यह आकार निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। हम न पीछे के अवतरणों से यह सार सर्वथा परिपुष्ट कर कर ही दिया है। अतएव विशेष विवरणों की आवश्यकता नही। मन्दिर की आकृति अर्थात् आकार प्रकृति है? पुनश्च प्रासाद का मूर्धन्य शिरोभूषण आमलक है जो नागर प्रासादो की विशिष्ट अभिख्या है वह भी यह इसी मर्म का प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार द्राविड़ प्रासादो की जो मूर्धाभूषण स्तूपिका स्तूपिका है वह भी यह निदर्शन प्रस्तुत करता है। स्तूपिका इस प्रकार से ब्रह्म रन्ध्र है। आमलक को समरागण-सूत्रधार ने आमलसारक की सज्ञा मे भी व्यवहृत किया है। आमलक—वृक्ष आवला के सम्बन्ध मे हमारे पुराण-ग्रन्थो मे बडी महिमा बखानी गयी है। स्कन्द पुराण (देव का० १२-९-२२) का प्रवचन है कि आमलक-वृक्ष

के मूल मे भगवान् विष्णु बैठे हैं ब्रह्मा ऊपर और शिव उनसे भी ऊपर, गूर्य शाखाओ मे तथा अन्य देव पत्रो, पुष्पो फलो मे निवास कर रहे है। इस प्रकार यह आमलक सर्व-देव-निकेतन, सर्व-देवावास, पूर्ण-देवत्व-प्रतीक प्रतिपादित स्वत हो जाता है। इस प्रकार प्रासाद के आकार की एक ही आकृति को लेकर उसकी महत्ता अपने आप सिद्ध हो गयी। इसी प्रकार वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों मे विशेष कर समराङ्गण-सूत्रधार मे अन्य नाना पद भी भरे पड़े हैं जैसे शिखर, अघ्रि, चरण, पाद, जघा, कटि, स्कन्ध, शिखर, मस्तक, ग्रीवा, शिखर, कलश, अण्ड, कोष, आदि आदि वे भी इसी प्रासाद-निवेश विराट्-पुरुष-निवेश का पूर्ण समर्थन करते है तथा Organic Theory का भी पूर्ण प्रामाण्य उपस्थित करते हैं।

उद्देश्य —मूलाधार ने हमने प्रासाद-निवेश के नाना प्रयोजनो एव प्रयोज्यो पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। यहा पर इतना ही सूच्य है कि हमारे देश मे देवराज्य की स्थापना ही सर्व-मौलिमालायमान उद्देश्य था। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था मे ब्राह्मण लोग बडे ब्रह्मज्ञानी थे, साधको मे सन्यास ही एक-मात्र योग-ध्यानादि का ही योग था परन्तु जनता-जनार्दन की कैसे उपेक्षा की जा सकती थी? विशाल जन समाज अज्ञ ही थे, सभी लोग ज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मविद् तो नही थे। अतएव

अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिताः

जब प्रतिमाओ की पूजा, उन की उपचारात्मक चर्या अनिवार्य थी तो उनकी प्रतिष्ठा के लिये, उनके राजत्व, आधिराज्यत्व एव राजोचित विशाल भवनो के समान ऊ ची शिखरावलियो से विभूषित, नाना अलकृतिया एव निकेतनो से उल्लसित विमानाकार प्रासादो की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पुनश्च जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा चातुराश्रम-व्यवस्था प्रकल्पित हो गयी तो चातुर्वर्ग्य-व्यवस्था भी बनी। चातुर्वर्ग्य से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष से है। अत प्रथम एव अन्तिम इन दोनो वर्गों—धर्म

दिया। ऐसे सक्रान्ति-युग मे महती क्रान्ति की आवश्यकता हुई। ऐसे समय पर भगवान् वेद-व्यास ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। जो यथानाम वेदो के परम निष्णात विद्वान् उपदेशक थे, जो ब्रह्म-सूत्र के प्रख्यात रचयिता थे, उन्होने जनता के हेतु अष्टादश पुराणो की रचना की। ऐसे समय मे भगवान् वेदव्यास को विश्वविनि गणेश जी की सहायता लेनी पडी। इन अष्टादश पुराणो के द्वारा इस महादेश मे भक्ति की धारा उद्दाम गति से प्रवाहित हो गयी। अत त्रिदेवोपासना अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु शिव -माहात्म्य की मन्दाकिनी का उद्दाम स्रोत बहने लगा। जहा पहले इस देश मे— *स्वर्गकामो यजेयेत्*—की परम्परा थी वहा अब—*स्वर्गकामो मन्दिर कारयेत्*-की सस्था इतनी द्रुतगति से विकसित, पुष्पित एव फलित हो गयी कि सारी की सारी जनता ही नही बडे बडे राजे महाराजे भी इसमे पूरी तरह शरीक हो गये। उन्ही की वदान्यता से, उन्ही की अतुल धनराशि से हमारे देश मे एक कोने से दूसरे कोने तक हजारो मन्दिरो का निर्माण हुआ और नाना स्थापत्य शैलिया विकसित हो गई, नाना शिल्प ग्रन्थ लिखे गये। यह कला भी कर्म-कला न रह कर ललित कला के महान् विलास एव प्रोल्लास से विकसित हो गई। साथ ही साथ धर्म एव दर्शन इन दोनो की सहायता से इस पूर्त-परम्परा को 'इष्टि' से भी बहुत आगे बढा दिया।

प्रासाद विन्यास प्रसार:—*प्रासाद की प्रतिमा के आधिराज्य एव वैभव* पर कुछ सकेत किया ही जा चुका है। प्रासाद-प्रतिमा के उपचारो मे राजोचित उपचार ही तो शिल्प-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट किये गये है। अमरकोष की दिशा से 'प्रासादो देवभूभुजाम्' से तात्पर्य प्रासाद एव राजहर्म्य पर्याय लौकिक तो माना जा सकता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि भिन्न है। इसका राजोचित एकात्म्य इंगित करना उचित है। जिस प्रकार प्राचीन एव मध्य-काल मे राज-भवन समाज एव राज्य की सुषमा, अभिख्या एव महत्ता के प्रतीक थे, उसी प्रकार प्रासादो को भी उससे बढ कर विन्यास-प्रसार प्रदान किया गया है। मनुस्मृति (दे० ९ ३०३-३१७, ७ ४-५) मे प्रत्यक्ष राजा को देवता के रूप मे प्रकल्पित किया गया है। राजा एक मात्र शासक ही नही था, सर्व देवो के समान पूज्य, आराध्य एव सम्मान्य था। अतएव राजोपचार प्रासादोपचार भी एक प्रकार के हो गये थे। इसी पृष्ठ-भूमि से प्रासाद-निवेश मे नाना विस्तार-प्रसार प्रादुर्भूत हो गये। इन प्रासादो में मण्डप, महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल, परिवार, देवालय, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप तथा अन्य नाना मण्डप उदय होने लगे। इस प्रकार ये प्रासाद-पीठ प्रासाद-नगर के रूप में परिणत हो गये।

के मूल म भगवान् विष्णु बैठे हैं ब्रह्मा ऊपर और शिव उनसे भी ऊपर, सूर्य शाखाओं मे तथा अन्य देवगणो, पुष्पों फलो मे निवास कर रहे हैं। इस प्रकार यह आमलक सर्व-देव-निवेशन, सर्व-देवावास, पूर्ण-देवत्व-प्रतीक प्रतिपादित स्वत हो जाता है। इस प्रकार प्रासाद¹ के आकार की एक ही आकृति को लेकर उसकी गरिमा अपने आप सिद्ध हो गयी। इसी प्रकार वास्तु-शिल्प-ग्रन्थो म विशेष कर समराङ्गण-सूत्रधार मे अन्य नाना पद भी भरे पडे हैं जैसे शिखर, अंघ्रि, चरण, पाद, जघा, कटि, स्कन्ध, शिखर, मस्तक, ग्रीवा, शिखर, कलश, अण्ड, कोष आदि आदि वे भी इसी प्रासाद-निवेश विराट्-पुरुष-निवेश का पूर्ण समर्थन करते है तथा Organic Theory का भी पूर्ण प्रामाण्य उपस्थित करत हैं।

उद्देश्य —मूलाधार मे हमने प्रासाद-निवेश के नाना प्रयोजनो एव प्रयोज्यो पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। यहा पर इतना ही सूच्य है कि हमारे देश मे देवराज्य का स्थापना ही सर्व-मौलिमालायमान उद्देश्य था। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था म ब्राह्मण लोग बडे ब्रह्मज्ञानी थे, आश्रमो मे सन्यास ही एक-मात्र योग-ध्यानादि का ही मोड था परन्तु जनता-जनार्दन की कैसे उपेक्षा की जा सकती थी? विशाल जन समाज अज्ञ ही थे, सभी लोग ज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मविद् तो नही थे। अतएव

अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिताः

जब प्रतिमाओ की पूजा, उन की उपचारात्मक चर्या अनिवार्य थी तो उनकी प्रतिष्ठा के लिये, उनके राजत्व, आधिराज्यत्व एव राजोचित विशाल भवनो के समान ऊची शिखरावलियो से विभूषित, नाना अलङ्कृतिया एव निकेतनो से उल्लसित विमानाकार प्रासादो की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पुनश्च जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था तथा चातुराश्रम्य-व्यवस्था प्रचलित हो गयी तो चातुर्वर्ग्य व्यवस्था भी बनी। चातुर्वर्ग्य से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष से है। अत प्रथम एव अन्तिम इन दोनो वर्गो—धर्म एव मोक्ष के सोपान के लिये जनता की तृष्णा उसकी धार्मिक चेतना एव मोक्षाभिलाषा के लिये प्रतिमा पूजा, प्रासाद-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कौन सा उपाय इस देश म सोचा जा सकता था। जब दृष्टि—यज्ञ के प्रति बाह्य एवं आभ्यन्तर दो विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो चुके थे अर्थात् बाह्य से तात्पर्य बौद्ध एव जैन धर्म एवं आभ्यन्तर से तात्पर्य आरण्यको एव उपनिषदो की विचार-धारा से है। आरण्यको मे यज्ञ एक-मात्र प्रतीक रह गये. उपनिषदो ने तो देव-वाद, यज्ञ-सस्था आदि को दत्त-हस्त देकर आत्मा एव परमात्मा मे प्रत्यवसानित कर

अन्त में यह सूच्य है कि मण्डपों की ऊंचाई प्रासाद की ऊंचाई से अधिक नहीं जाना चाहिये। हमने अपने ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्रीय-सिद्धान्तों पर इन विषयों की जो व्याख्या एवं समीक्षा की है वह वहीं द्रष्टव्य है। अब आइये जगती-निवेश पर।

जगती निवेश—वैसे तो जगती का अर्थ पीठ है, जो प्रासादांगों में विशेष्य था, परन्तु जगती समरांगण-सूत्रधार में एक विशिष्ट वास्तु-स्थान रखती है। जगती नगराणामलंकार के रूप में परिकल्पित की गयी है। किसी भी पुराने जीर्ण-शीर्ण शिवालय की ओर मुड़िये, वहां जगती बड़ी ऊंची, बड़ी चौड़ी दिखाई देगी। जगती पीठिका ही नहीं वरन् प्रासादों में एक विशिष्ट रचना है। प्रासाद एवं जगती के प्रतीकोपाम्य में प्रासाद को लिंग और जगती को पीठ माना गया है।

'जगती' पद की जो दो व्याख्याओं का ऊपर संकेत किया गया है उस पर विशेष विवरण से पूर्व समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन में द्रष्टव्य है—दे० अनुवाद। उत्तर भारत में *किसी भी ग्राम (विशेषकर यू० पी०, मध्य भारत) में जाये* वहां पर कुंवे की ऊंची पीठिका को 'जगत' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इससे यह 'जगत' जगती का अपभ्रंश सत्य है। अतः जगती पीठिका ही है, परन्तु वास्तु-शिल्प-शास्त्र एक-मात्र यान्त्रिक कला-शास्त्र नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र भी है। उपर्युक्त उद्धारण में जो दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण संकेत है उससे जगती को स्वर्ग *एवं अपवर्ग का साध्य एवं साधन आधार एवं आधेय प्रतिपादित कर दिया है।*

जगती निवेश में नागर-वास्तु विद्या एवं वास्तु-कला का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। जगती निवेश में शाला विन्यास अभिन्न अंग है। चौड़ी बड़ी, लम्बी ऊंची जगती पर चारों कोनों, चारों प्रमुख दिशाओं एवं विदिशाओं पर शाला-न्यास अनिवार्य है। इन शालाओं की राशा यहां अवश्य अवतारणीय है—

दर्शोद्‌मदा, भद्रजा मध्यजा तथा अमोत्था एवं गर्भ समवा तथा पार्श्वजा। इन जगतियों में नाना आकार भी प्रतिपादित हैं—चतुरश्राकार, आयताकार, वर्तुलाकार, षडश्रि, आदि आदि।

जगतियों की नाना संज्ञायें हैं। आकारानुरूप इन जगतियों की संख्या बड़ी लम्बी है जो अनुवाद में द्रष्टव्य है।

विमान निवेश—अभी तक हम प्रासाद निवेश में नागर-वास्तु-विद्या के अनुरूप अध्ययन करते रहे हैं। अब हम विमान-निवेश विमान-वास्तु पर भी अध्ययन आवश्यक है। पिछले स्तम्भों में प्रासाद एवं विमान के अपने अपने वैशिष्ट्य की ओर कुछ संकेत करते आये ही हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में द्राविड़ी कला नागरी

का पोषण करते हैं। अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम सूक्ष्म विवरणों से ही इस स्तम्भ को समाप्त करते हैं।

'विमान' पद के सम्बन्ध में थोड़ा सा विद्वानों में वैमत्य भी है। विमान प्रासाद है—यह धारणा भ्रान्त है। विमान एवं प्रासाद पर्याय मान जाने चाहियें। जिस प्रकार प्रासाद मन्दिर (गर्भ-गृह) का पूर्ण कलेवर है, उसी प्रकार विमान भी गर्भ गृह का पूर्ण कलेवर है। डा० आनन्द कुमार स्वामी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। डा० क्रैमरिश ने भी अपने 'हिन्दू-टैम्पिल' में भी इस मत का पोषण बड़ी गहनता से किया है। ई० यु० प० जो दाक्षिणात्य वास्तु विद्या का अधिष्ठान ग्रन्थ है, उसने भी अपने इस निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा इस व्याख्या को सार्थक कर दिया है —

"मानामानविधानत्वात् विमान शास्त्रत इतम् "

जहां प्रासाद का जन्म एवं विकास वैदिक 'चिति' सदनम् साद से हुआ है, वहां विमान इस प्रकार से शुल्व-सूत्रों के आदिम स्रोत विशेषकर ज्यामितीय वाङ्मय परम्परा से ही यह विकास एवं प्रोत्थान सम्पन्न हुआ है। डा० आचार्य ने 'मानसार' को शिल्प-ग्रन्थों का आदिम स्रोत माना है। मैंने इसे नहीं माना है, परन्तु अपनी समीक्षा एवं व्याख्या में इन ग्रन्थों का मौलिमालायमान श्रेय 'मान' में है। एतएव 'मान' (measurement) तत्कालीन युग की वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता थी। पुनः विमान शब्द माया शब्द पर ही आधारित है। 'मेय एवं 'मान' वास्तु की आधार-शिला है। समरांगण सूत्रधार का निम्न प्रवचन पढ़ें —

' मेय तदपि कथ्यते '

अन्य प्रवचन भी पढ़ें —

' मान वास्तु सुसम्पूर्ण जगत्सम्पूर्णता भवेत् '

अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम विमान-निवेश की ओर आते हैं—विमान-वास्तु की सर्व प्रमुख विशेषता गोपुर-निवेश एवं प्राकार निवेश है। प्रस्थान मन्दिर-पीठों का दर्शन करें। पहले आपको गोपुर-द्वार तथा प्राकार ही प्राप्त होंगे। उत्तरापथ के प्रासाद-पीठों पर यह रचना न के बराबर है। दक्षिण के ये सब मन्दिर-पीठ मन्दिर-नगर के रूप में विभाज्य हैं।

अतः विमान-वास्तु के सर्व-प्रमुख निवेश—प्राकार, गोपुर, परिवार, मण्डप विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां सक्षम शास्त्रीय विवेचन जो आवश्यक है—इस

दृष्टि से 'वास्तु-शिल्प-पदावली' खण्ड मे द्रष्टव्य है। यहा पर हमे यही समीक्ष्य है कि प्रासाद एवं विमान का अपना २ क्या २ वैशिष्ट्य है।

प्रासादो की सर्व प्रमुख विशेषता है—शिखर, शिखरो के नाना वर्ग हैं, जैसे अण्डक-शिखर, मञ्जरी-शिखर, लता-शिखर आदि। ऊपर पहले भी कुछ सकेत किया ही जा चुका है। पुनश्च शिखरो का मूर्धन्य वास्तु 'आमलक' है, वही नागर प्रासादो की सर्व-प्रमुख विशेषता मानी गई है। अथच जहा तक विमान-मन्दिरो की विशेषता का प्रश्न है वे भौमिक प्रासादो के नाम से विश्रुत है। भूमिया (storeys) ही विमान-प्रासादो की सर्व-प्रमुख विशेषता है। समराङ्गण-सूत्रधार मे द्राविड प्रासादो पर जो दो अध्याय हैं, उनमे इन द्राविड-प्रासादो अर्थात् विमानो को एक-भूमिक से द्वादश-भूमिक प्रासादो के रूप मे वर्णित किया गया है। पुनश्च इनकी दूसरी विशेषता पीठ है, जिनकी संज्ञायें नाना है – वे तत्रैव (वा० शि० पदावली) मे द्रष्टव्य है। पुनः उनके तलच्छन्दो की भी कुछ विशेषतायें है। इस सकेत के उपरान्त द्राविड-विमानो की सर्व-प्रमुख विशेषता वास्तु-मूर्धन्य-अलकरण स्तूपिका है – ये ही दो वास्तु-तत्व 'आमलक' एव 'स्तूपिका' दोनो अर्थात् प्रासाद एव विमान को अपनी २ शैली पर आसीन कर देते है जिस प्रकार आमलक अध्यात्म-निष्यन्द-सार है उसी प्रकार विराट-पुरुष (Body Corporate) के ब्रह्मरन्ध्र की शिखा को 'स्तूपिका' के नाम से बोद्धव्य है। दार्शनिक तत्व दोनो मे समान हैं।

प्रासाद-प्रतिष्ठा एव मूर्ति-न्यास —वैसे तो व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठा एक प्रकार से यज्ञीय धर्म है, पर तु वास्तव म यह प्रतिष्ठा प्रासाद-कला का मूर्धन्य कृत्य है। आजकल के लोग वास्तु-कला को कर्म-कला या यान्त्रिक-कला के नाम से सबोधित करते हैं, परन्तु हमारी परम्परा में जिस प्रकार —षड्ङ्गो वेद षड् दर्शनानि—तथैव हम ने अपने ग्रन्थ मे 'षड् कला की नवीन व्याख्या एव समीक्षा की है —ये ६ कलायें ललित कलायें हैं। जैसे सगीत, जैसे नृत्य, जैसे काव्य या चित्र या शिल्प, उसी प्रकार वास्तु भी ललित कला है। जब सगीत में नाद ब्रह्म की कल्पना है, जिस प्रकार काव्य मे रस-ब्रह्म की कल्पना है, उसी प्रकार वास्तु में भी वास्तु-ब्रह्म की कल्पना की गई है। अत वास्तु-कला एव शिल्प-कला की जो मूर्धन्य-कृति है वह हिन्दू प्रासाद ही है। प्रासाद का आध्यात्मिक एव दार्शनिक रूप पूर्व-प्रतिपादित हो ही चुका है। अत. प्रासाद-प्रतिष्ठा के लिये यह वास्तु-कला भी एक प्रकार से महान् यज्ञीय धर्म है।

स्थपति एवं स्थापक—कर्तृ-कारक-व्यवस्थाः—प्रासाद-प्रतिष्ठा में स्थपतिः स्थापक-विवेचन आवश्यक है। स्थपति की योग्यता एवं स्थपतियों की चतुर्धा कोटि पर हम अपने भवन निवेश में काफी प्रतिपादन कर ही दिया है। यहां पर यज्ञ-सस्थानुरूप से स्थपति स्थापक के साथ कर्ता अर्थात् स्थपति एवं कारक अर्थात् यजमान् अर्थात प्रासाद-कारक—इस विषय पर कुछ समीक्षा अनिवार्य है। आज के भारत को देखें तो यह स्थापत्य-कला निम्न वर्ग में ही सेव्य है। उत्तर भारत में स्थपति-परिवार एक प्रकार से नष्ट-प्राय है। हां दक्षिण भारत में अब भी शिल्प-वृन्द पाये जाते हैं। शिल्प-ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियां भी उनके पास अब भी विद्यमान है। परन्तु रहस्य क्या है कि इस देश में यह प्राचीन वास्तु-कला क्यों नष्ट-प्राय दिखाई पड़ रही है? सम्भवतः आदि स्थपति विश्वकर्मा को जो शाप लगा था तो क्या उसी का यह फल है। अस्तु, इस वृत्तान्त में न जाकर अब हम स्थापक की ओर मुड़ते हैं। श्रौत-कर्म के विज्ञों से अविदित नहीं कि यज्ञ में आचार्य के बिना यज्ञ का सम्पादन असम्भव है। प्रासाद-कर्म भी यज्ञ संस्था के समान है। यज्ञ कराने वाला यजमान् कहलाता था, यज्ञ-कर्ता पुरोहित था, यज्ञ-कर्म का निर्देशक आचार्य होता था। तदनुकूल प्रासाद-कर्म में त्रिजन(Trinity) की भी अनिवार्य परम्परा बन गयी थी। कर्ता से तात्पर्य स्थपति से है कारक से तात्पर्य प्रासाद-कारक यजमान से है। स्थापक से तात्पर्य प्रासाद-निर्माण का अध्यक्ष आचार्य होता था वह पद पद पर प्रासाद-निर्माण में नाना यज्ञीय उपचारों एवं धार्मिक तथा दार्शनिक कृत्यों से इस निर्माण को धर्म दर्शन से अनुप्राणित करता रहता था। वास्तु पुरुष विकल्पन, वास्तोष्पति-आवाहन, वास्तु बलि, वास्तु देव-प्रतिष्ठा हल-कर्षण, अंकुरारोपण गर्भाधान शिला-न्यास प्रतिष्ठापन-संस्करण मध्य मध्ये पूर्ण संस्कार, कलश-न्यास, मूर्ति-न्यास, प्रासाद-प्रतिष्ठा आदि आदि ये सब इसी उपर्युक्त तथ्य के पोषक है।

अब आइये किस मन्दिर का कौन कर्ता हो सकता है और कौन कारक हो सकता है। समरांगण-सूत्रधार से जो नाना-वर्गीय प्रासादों का स्तवन निर्मितया एवं शैलिया व्याख्यात हैं उन में विशेष प्रासादों की महिमा में कर्तृ-कारक-व्यवस्था के पूर्ण संकेत प्राप्त होते है। यह सब अनुवाद खण्ड में पठनीय है।

हमारे शिल्प-ग्रन्थों में स्थपति को ब्रह्मा के रूप में, कारक-यजमान को विष्णु *के रूप में तथा स्थापक-आचार्य को रुद्र (शिव) के रूप में विभावित किया गया है।*

अथच इन्हीं तीनों की निष्ठा से प्रासाद का प्रारम्भ एवं अवसान, न्यास एवं प्रतिष्ठा, प्रासाद एवं प्रतिमा का संयोग साध्य एवं सिद्धि सब हो जाता है।

आकार-भूषा प्रतीक—मूर्ति-न्यास—प्रासाद का आकार पुरुषाकार है। पीछे के प्रकरणों से स्वतः सिद्ध है—प्रासाद पुरुष मत्वा पूजयेत मन्त्रविन्तम। अतएव

जिस प्रकार पुरुष के आकार में नाना अवयवों जैसे पाद, चरण, अंघ्रि, जानु, जंघा, कटि, जठर, बाहु प्रबाहु, स्कन्ध ग्रीवा, मस्तक, मूर्धा, केश कपाल, ब्रह्मरन्ध्र शिखा, स्तूपी, आदि का प्रत्यक्ष दर्शन अंग्यों एवं उपांगों में प्राप्य है, तथैव प्रासाद अर्थात् प्रासाद-पुरुष है—विराट-पुरुष है उसी प्रकार प्रासाद अर्थात् मन्दिर भी पुरुषांगों से ही विनिर्मित है। आगे के स्तम्भों में नाना अंगों की तालिका दी जावेगी।

अब आइये भूषा की ओर। प्रासाद-शैलियों में नागर शैली के भी अनेक अवान्तर विकास विख्यात हैं। प्रासाद-शैलियों में शिखर-विन्यास ही परम घटक है। नागर शैली में जो नाना अवान्तर भेद पल्लवित हुये हैं उन में अण्डक-शिखर, लता-शृंग, मञ्जरी-शिखर ही विशेष उल्लेख्य हैं। इन्हीं शिखरों की भूषा ने प्रासाद-भूषा को भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि बना दिया है। अतः शिखर ही प्रासाद-भूषा है। जहां तक विमान-भूषा की बात है वह कुछ विशेष स उल्लेख्य है। अधिष्ठान एवं उपपीठ की नाना विच्छित्तियां, स्तम्भ की नाना भूषाएँ आकृतियां तथा अलंकृतियां, द्वार एवं द्वार-शाखायें, सोपान तोरण, भित्तियां वेदिकायें, कूट, शालाएँ, पंजर, जालक, उत्तर, शिखर, स्तूपिका विमान-शिखर आदि आदि ये सब विमान-भूषाएँ हैं।

जहां तक प्रतीकों की बात है वे उत्तरापथीय मन्दिरों में ये प्रतीक-लाञ्छन विशेष दर्शनीय हैं। खजुराहो भुवनेश्वर, कोणार्क, पुरी, उदयपुर (एकलिंग), ग्वालियर तथा अन्य प्रासाद-पीठों को देखें, जहां पर नाना-वर्गीय प्रतीक-मूर्तियों के मनस्थातीत रूप प्राप्त होते हैं। इस मूर्ति-स्थापत्य (Iconographical Sculpture) को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रासाद-कलेवर पर उत्कीर्ण मूर्तियां
(२) प्रासाद-जगती पर निविष्ट मूर्तियां
(३) प्रासाद-मण्डप पर उत्कीर्ण मूर्तियां

प्रथम वर्ग में नाना देवयोनियां—यक्ष, विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें तथा परिवार-देव-देवियां एवं मिथुन विराजमान हैं। जगती पर जो शार्दूल, शक्ति, वृषभ, सिंह, आदि बृहदाकार मूर्तियां दिखाई पड़ती हैं—वे भी प्रतीक-लाञ्छन हैं। अब आइये मण्डपों की अभिख्या की ओर। मण्डप एक प्रकार से प्रासाद गर्भ में देव-दर्शनार्थ के लिये एक प्रकार देव-भावना, पूत-भावना, भक्ति-श्रद्धा जागृत करने के लिये तदनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये प्रासाद-गर्भ में जाने के लिये महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल इन तीनों की परिवार के ही देव साक्षात्कार करने की व्यवस्था है—यहाँ पर जो मूर्तियां दिखाई पड़ती हैं वे भी इसी वातावरण एवं दिव्य भाव को उत्पन्न करने के लिये उत्कीर्ण की गयी हैं।

प्रासाद-कला-इतिहास

A new light on
Temple-architecture
Brahmana, Bauddha & Jaina

उपोद्घात—इस उपोद्घात मे समीक्षा का विषय यह है कि कला का विकास सर्वथा धर्माश्रय अथवा राजाश्रय पर ही आश्रित है—यह तथ्य वास्तव मे सब प्रकार से सत्य है परन्तु जो धर्म के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण की आवश्यकता है उस मे थोडी सा यहा विशेष विवक्षा की आवश्यकता है।

आधुनिक कला विशारदो ने तथा कला पर निष्णात लेखको ने जो लगभग सौ वर्ष से लेखनी चलाई है, उनकी धारणाओं मे मेरी दृष्टि मे कुछ मौलिक भ्रांति अवश्य है। कला को विद्वानो ने देश, जाति, सभ्यता, जीवन, आचार, विचार का सर्व-प्रमुख प्रतीक माना है। इन भूतल पर नाना जातियो का एव नाना सभ्यताओ का उदय हुआ। अतएव इन सभी जातियो की कलायें तथा अन्य धारायें अपनी अपनी दृष्टियो से विकसित एव वृद्धिंगत हुई। विद्वानो ने भारत की सभ्यता को ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही माना है। सभ्यतानुरूप ही तो नाना विकास मूल पर ही आश्रित होते हैं तो क्या ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन धर्म भारत की सभ्यता के अनुकूल अथवा मूलाश्रय पर नही विकसित हुए। तो फिर भारतीय कला के इतिहास मे जो विशेषकर प्रासाद-स्थापत्य अर्थात् धार्मिक या पूजा वास्तु को तीन प्रधान वर्गों मे विभाजित किया गया है वह गौण रूप से तो ठीक ही है। आधुनिक विद्वानो ने हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के जन्म के सम्बन्ध मे जो नाना आकूत निकाले हैं,वे सर्वथा भ्रान्त तोहैं ही। हमने मूलाधारो (देखिये प्रथम पटल) तथा शास्त्रीय सिद्धान्तो (देखिये द्वितीय पटल) मे इन आकूतो का पूर्ण रूप निराकरण कर ही दिया है। यहा प्रकृत मे जब हम इस तृतीय पटल मे कला के स्तर पर आते है तो हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि मूलाधारो (वैदिक, पौराणिक तथा लोकधार्मिक) एव शास्त्रीय सिद्धान्तो के क्रोड मे क्या हम तथा-कथित बौद्ध-वास्तु और जैन-वास्तु को इस स्तम्भ मे न सम्मिलित करें ?

ऊपर की समीक्षा मे यह असगति अपने आप उठ खडी होगी, यदि हम भारत की सभ्यता के अनुरूप इस प्रासाद-वास्तु की समीक्षा न करें। बहुत से विद्वानो ने प्रासाद के जन्म और विकास के जो अनेक सिद्धान्त (Theories) स्थापित की हैं, वहा अब कई विद्वानो ने (देखिये P. K Acharay's Manasara Publications and Hindu Temple—Dr. Stella Kramrish) हिन्दू प्रासाद के जन्म एव विकास में वैदिक चिति

को ही जननी, व्यवस्थापक तथा प्रतिष्ठापक माना है तो फिर ई० पू० लगभग दो हजार वर्ष पुरानी शृखला को, गुप्त-कालीन या चालुक्य-कालीन या पल्लव-कालीन प्रासाद-विकास एव प्रोल्लास मे उसका ऐतिहासिक दृष्टि से किस प्रकार से हम पूर्ण रूप से मूल्याकन कर सकेंगे।

अतएव इस अभाव को दूर करने के लिये हमे पाठको और विद्वानो के सामने यह विचार प्रस्तुत करना है कि वैदिक चिति भी वैदिक-कालीन पूजा तथा आराधना का प्रमुख अग यज्ञ-सस्था थी। इस यज्ञ-सस्था का जब महान् प्रसार विशेषकर समृद्ध परिवारो, राजन्यो, राजकुलो, श्रेष्ठि-कुलो मे तो फैल गया था, एक प्रकार से साधारण जनता के लिये यह सस्था विशेष सुकर नहीं थी। अत अपने आप यज्ञ-सस्था के प्रति जनता मे औदासीन्य तथा अपने आप उपेक्षा फैल गई। इसी प्रगति में बौद्ध एव जैन—इन दो धर्मों का अनायास जन्म हो गया। सभी लोगो का ऐकमत्य है कि बौद्ध धर्म एक-मात्र राजाश्रित नही था। वह महात्मा बुद्ध के समय जनाश्रित था। अतएव जनाश्रय ने ही इस धर्म को ई० पू० पाचवी शतक से तृतीय शतक तक इस देश मे बडा योगदान दिया। यह धर्म दुर्भाग्यवश एक-मात्र मौलिक नही था। यह एक—मात्र सक्रान्ति-युगीन था। अतएव अपने आप बौद्ध-धर्म में महान् परिवर्तन आ गया जिसको हम महायान के नाम से पुकारते हैं। इस महायान में पौराणिक पूजा परम्परा तथा अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा, देव-पूजा सभी घटक जो पुराणो की देन थी, वह भी इसमें सम्मिलत हो गये। अत यहा पर यह भी स्पष्ट करना है कि जब याग-सस्था के प्रति सामान्य जनता की विमुखता हो गई तो क्या ब्राह्मण, राजन्य भी यही चुप बैठ सके, उन्होंने भी बाह्य-पूजा के प्रति तिलाजलि देकर आत्मक-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान की ओर पूर्ण रूप से झुक गये। राजन्य जनक का औपनिषदिक तत्व-ज्ञान विश्वविश्रुत है। जो ब्राह्मण, ऋषि और महर्षि वैदिक कर्म-काड पर भी आस्था रखते थे, उन्होने भी तो ब्रह्म-ज्ञान और आत्म ज्ञान की नई धारा उपनिषदो मे बहा दी। यह धारा तो भागीरथी गङ्गा के समान नही थी जो पूरे समाज को न आप्लावित कर सकी, न प्रक्षालित कर सकी। अत इसे समय मे एक महान् क्रान्तिकारी महात्मा भगवान् वेदव्यास की आवश्यकता थी जिन्होने विशाल-जन-समाज की प्रेरणा को देखकर, हृदयङ्गम कर इस अत्यन्त सूक्ष्म, कठोर, कठिन, अतिसीमित धारा को अर्थात् आत्म ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, की महाधारा—देवपूजा, तीर्थ-यात्रा मे बहा दिया। अष्टादश पुराणो की रचना तथा दृष्टि से बाद पूर्त-धर्म के स्थापन का श्रेय भगवान् वेद-व्यास को ही है।

अतएव महायान के विकास मे इन पुराणो का भी प्रभाव था तो फिर महायान धर्म की क्रोड मे प्रोल्लसित स्थापत्य-कला को हम क्या प्रासाद-कला अर्थात् पूजा-वास्तु के रूप मे नही मूल्यांकन कर सकते ? जहा ब्राह्मण-धर्म मे नाना उपासना सम्प्रदाय—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त और गाणपत्य विकसित हुये तो क्या भारतीय मौलिक उन्मेष मे अन्य नई २ धाराएं नही वर्गीकृत नही की जा सकती हैं ? अगर इस मौलिक उन्मेष मे यह निस्सकोच प्रतिपादन करते है कि भारतीय कला विशेषकर प्रासाद-कला के जो प्राचीनतम बौद्ध-वास्तु के महानीय निदर्शन प्राप्त होते है वे भी पूजा-वास्तु या प्रासाद-वास्तु के ही विभाग है।

अब एक समीक्षा और रह गई कि यह महायान-पूजा वास्तु के निदर्शन जैसे साची, बारहुत आदि महापीठ प्रख्यात है तो उनसे पहले कौन से पूजा वास्तु के निदर्शन हम प्रस्तुत कर सकते हैं। हमने अपने उपोद्घात मे हिन्दू प्रासाद की जननी वैदिक चिति को माना है तो यह अवधारणा किस प्रकार से सम्बद्ध की जा सकती है। बहुत से, लगभग ई० पू० २००० वर्ष पुराने, जो खनन और अन्वेषण हुये है उनमे भी पूजा-वास्तु-निदर्शन के अभाव नही है। लिङ्ग-पूजा नाग पूजा के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुन यह सारा पूजा वास्तु एक मात्र पाषाणीय निदर्शनो मे ही हम यतार्थ नही कर सकते। हाँ समरागण सूत्रधार म प्रासादो की नाना विधाएं हैं जैसे पट्टिश, दारुज, लयन आदि आदि। पट्टिश से तात्पर्य वस्त्र-निर्मित दारुज से तात्पर्य काष्ठमय, लयन से तात्पर्य गुहामय अथवा गुहाघर। अत' जहा तक शास्त्रीय सिद्धान्तो अर्थात् वास्तु शास्त्रीय- शिल्प शास्त्रीय ग्रथो म प्रतिपादित इन सिद्धान्तो की जो समीक्षा है उससे यह तथा-कथित ब्राह्मण मन्दिरो के प्रासाद-वास्तु से बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, जैन प्रतीक एव प्रासाद भी कला का दृष्टि से पृथक् नही किये जा सकते।

बात यह है कि वरेण्य पुरातत्व-विदो जैसे बर्जिज फर्गुसन आदि आदि ने भारतीय वास्तुकला एव मूर्तिकला के जो अन्वेषण, अनुसधान तथा गवेषणात्मक विज्ञप्तिया प्रस्तुत की हैं वे सर्वथा उनके दृष्टि-कोण से ठीक ही है क्योंकि यह ई०पू० तथा ईसवीयोत्तर जितने भी निर्मित स्मारक तथा खनित उपलब्धियाँ प्राप्त की है उनकी ऐतिहासिक दृष्टि से सगति भ्रान्त नही है, परन्तु कला-समीक्षा की दृष्टि से इन सब स्मारको और उपलब्धयो का एक समन्वयात्मक(Synthetic) अध्ययन आवश्यक है। दुर्भाग्य का विलास है कि रामराज तथा प्रसन्नकुमार आचार्य के पहले किसी भी विद्वान् ने वास्तु-शास्त्र अथवा शिल्प शास्त्र के सिद्धान्त को न तो पढा और न समझा। हमारे देश की सस्कृति के जहा आचार विचार, रहन-सहन, भोजन-भजन पर जब धर्म-शास्त्रो मे, नीति शास्त्रो मे पूर्ण, प्रौढ एव

प्रासाद-वास्तु की ऐतिहासिक समीक्षा—तालिका

इस उपोद्घात के अनुरूप भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को हम निम्न स्तम्भो मे विभाजित करना चाहते हैं —

१. पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता-कालीन
२ वैदिक-कालीन
३. उत्तर-वैदिक-कालीन
४. पूर्व-मौर्य-कालीन (४०० ई० पू०)
५. उत्तर-मौर्य-कालीन—अशोक-कालीन
६. शुंग-कालीन तथा आन्ध्र-कालीन (१८५-१५० ई० पू०)
७. लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद (२०० ई०पू०से २००ई०)
८. गान्धार-वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य-वास्तु
९ दाक्षिणात्य-पार्वत-प्रासाद-वास्तु (२०० ई० पू०-५०० ई०)
१० उत्तरापथीय ऐष्टिक-वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास
११ गुप्त नरेशो के स्वर्णिम समृद्ध राज्य-काल मे नागर प्रासाद-कला का जन्म, विकास एव प्रसार (३५०-६५०)
१२. चालुक्य-नरेशो के राज्य-काल मे प्रोल्लसित प्रासदों की समीक्षा
१३. पल्लव-राजवश की अनुपम देन (६००-९००)
१४. चोल-नरेशो की वदान्यता और उनके काल मे उत्थित विमान-प्रासाद (९००-११५०)
१५. पाण्ड्य-नरेशो के युग मे विमान-वास्तु मे नई आकृतियो तथा नवीन निवेशो का उत्थान (११००–१३५०)
१६ विजयनगर-सत्ता मे विमान-प्रासादो मे नई उद्भावनायें तथा नई अलकृति-विच्छित्तिया (१३५२-१५६५)
१७ मदुरा के नायक राजाओ के काल मे दाक्षिणात्य प्रासाद-कला के चर्मोत्कर्ष मे विमान-वास्तु का सर्वश्रेष्ठ अवसान

टि० अब आइये उत्तरापथीय महाविशाल प्रासाद क्षेत्र की ओर जिनमे निम्न-लिखित वास्तु-पीठ विशेष विवेच्य हैं :—

१८. उत्कल या कलिंग (आधुनिक उडीसा)—भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी—केसरी राजाओ या श्रेय

१६ बुन्देलखण्ड खजुराहो—चन्देलों तथा प्रतीहारों की देन
२० गुर्जरों का महान् प्रकर्ष—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड
२१ सुदूर दक्षिण—खान-देश
२२ मथुरा-वृन्दावन

टि० इस विशाल भारत में दोनों महा प्रदेशों (उत्तर एवं दक्षिण) की प्रासाद-कला के इस वर्गीकरण के उपरान्त अब हमें पूर्व-पश्चिम के साथ बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर एवं मध्य-एशिया की ओर भी जाना होगा

२३ बंगाल—सेन एवं पाल वंश में प्रोदित प्रासाद-कला (८००—१७००)
२४ काश्मीर में एक नवीन संगम का दर्शन (२००—१३००)
२५ नैपाली वास्तु-कला
२६ सिंहल-द्वीपीय प्रासाद-कला
२७ ब्रह्म (बर्मा)—देशीय मन्दिर
२८ बृहत्तर-भारतीय-प्रासाद-कला
(अ) कम्बोडिया
(ब) स्याम
(स) चम्पा
(य) जावा तथा बाली आदि



पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता के पूजा-वास्तु-निदर्शन

हमने अपने उपोद्घात में प्रासादों के जन्म एवं उदय में वैदिक चिति को मूल प्रकृति माना है और इसी मूल-प्रकृति पर जो अनेक प्रतिकृतियां (prototypes) पल्लवित एवं विकसित हुईं, उनमें सभा अथवा मण्डप-भवन ही सर्व-प्राचीन निदर्शन है। मोहेनजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो हमें वास्तु-निदर्शन मिले हैं, उनमें स्नानागार तथा भौमिक भवनों के अतिरिक्त सभा-भवन भी प्राप्त हुये हैं और इनका एक मात्र प्रयोजन सम्भवतः सामूहिक पूजा-भवन से था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता पूर्व-वैदिक-कालीन थी अथवा समकालीन थी। ऋग्वेद की नाना ऋचाओं में सहस्र-स्तम्भ सभा भवनों पर प्रचुर संकेत हैं। त्रिभौमिक भवनों (त्रिधातु शरणम्) पर भी पूर्ण विवरण हैं। यह रहा तत्कालीन वास्तु-कला का साहित्यिक प्रमाण। ऋग्वेद में शिश्न देवा—मूरदेवा ये भी संकेत प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त वैदिक कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा सम्प्रदाय पर जो हमें संकेत प्राप्त होते हैं पुनः इस वैदिक-कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमने संकेत किया है वह साक्षात् सिंधु-घाटी की सभ्यता में पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है। अतः यह जो बहुत दिनों से यह धारणा शनैः शनैः परिपुष्ट होती जा रही है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक काल से प्राचीनतर है वह सर्वथा ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मान्य मानी जाए परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक-कालीन सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता इस दृष्टि से समकालीन है। इसके स्पष्टीकरण में हमें दो तीन विवरणों की ओर जाना होगा।

(अ) बहुत से विद्वानों ने यह मान रक्खा है कि प्रतिमा पूजा एक-मात्र उत्तर-वैदिक-काल अर्थात् सूत्रों, महाभारत, रामायण अथवा पुराणों के युग में प्रारम्भ हुई—यह धारणा मेरी दृष्टि में बिलकुल भ्रान्त है। इस महादेश में जब आर्यों और अनार्यों का संघर्ष हुआ तो हम अनार्यों की सभ्यता को क्यों भूल गये और उनके जीवन एवं उनकी कला पर बहुत बड़े अनुसंधान की आवश्यकता है। सिन्धु-घाटी की खुदाई में हमें जो पूजा प्रतीक (जैसे योनि-मुद्रा, शाकम्भरी देवी आदि अनेक प्रतीक एवं प्रतिमायें) तथा पशुपति शिव, लिंग-प्रतिमाएं प्राप्त हुईं

हैं, उन से यह साक्षात् सिद्ध होता है कि यह सभ्यता अनार्यों, असुरों, द्राविडों अथवा नागों की थी।

(ब) सभी विद्वानो ने ऐकमत्य से यह स्वीकार किया है कि लगभग ५००० साल पुरानी बात है कि यह आर्य जाति अपने आदिम निवास पूर्व-मध्य एशिया से पश्चिम (योरोप) पूर्व (भारत) तथा उत्तर (ईरान) मे अपनी अपनी टुकडियो मे विभाजित हो कर समस्त विश्व को आक्रात ही नही कर दिया वरन् अन्य जातियो को परास्त कर अपनी सभ्यता का पूरा प्रसार कर दिया।

(स) अत: यह निर्विवाद है कि इस देश मे यह पूजा-वास्तु एक-मात्र आर्य-संस्था नही है वरन् अनार्य-संस्था भी है। जेता और जित दोनो के सम्पर्क से दोनो अपनी अपनी सभ्यता के मूल एक मे मिलकर महान् वटवृक्षोपम पल्लवता को प्राप्त होते हैं। अत प्रासाद पद का नैरुक्तिक अर्थ जो है वह एक मात्र मन्दिर नही है वह एक प्रकार से ऐष्टिक वास्तु है जो वैदिक भित्ति पर आधारित है। भारतीय वास्तु-कला के प्रसिद्ध लेखक जैसे परसी ब्राउन ने यह स्वीकार किया है कि तत्कालीन सिन्धु घाटी सभ्यता मे जो भवन निर्मित हुये थे सब ऐष्टिक वास्तु हैं। आर्यों और अनार्यों की सभ्यता में एक ही अन्तर था—आर्य आरण्यक, ग्राम्य सरितोपकूलीय जीवन पर अभिनिवेश रखते थे, अनार्य परकोटों से घिरे पत्तनों, पुरों, दुर्गों में निवास करते थे। जहा आर्यों की जीवन-धारा में ग्राम्य और आरण्यक जीवन अकाट्य तथ्य सिद्ध है तो फिर हमारे जितने भी वास्तु अनवा शिल्प ग्रन्थ मिलते हैं तो उनमे ग्राम-निवेश नगर निवेश मे जो यह अविच्छिन्न परम्परा थी कि सभी बस्तिया प्राकार, परिखा, वप्र, अट्टालक से अवश्य निविष्ट होने चाहियें तो क्या यह आर्य घटक हैं या अनार्य। डा० आचार्य ने भी सिन्धु घाटी सभ्यता मे शिखरालकृत विमान-भवनो को भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता मे इन्हे मन्दिरो के रूप में उपकल्पित किया है। हमने पहले पूजा-वास्तु के निदर्शन मे सभा-मण्डपो पर सकेत दिया ही है। मार्शल, साहनी बैनर्जी और आचार्य इन सब ने विमान-भवनो का भी परिपुष्ट प्रमाण से प्रतिपादित किया है। इन विमान-भवनो के केन्द्र-प्रकोष्ठ मे खाडी वाली प्रतिमा अथवा लिंगाकृति मे स्थापित पाई गई है।

इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध लेखक हरनाम गोट्स ने भी इस का पूर्ण समर्थन किया है, जिन का उद्धारण आवश्यक है —

" One of these (VR area at Mohenjodara) is approched from

the South by two symmetrically disposed stairs leading to a monumental double gate, in the small court a ring of bricks seams once to have enclosed a sacred tree or the statuette of a sitting bearded man, the fragments of which were found within the precincts In the citadel of Mohenjodaro another religious building has been discovered, the centre of which [illegible] [illegible] tank to which at both ends, steps lead down from a surrounding passage adjacent there [illegible] a pilastered hall and several sets of rooms or cells"—Art of the World—India p 27 28



२ वैदिक-कालीन-वास्तु

हम ऊपर वैदिक-कालीन पूजा-वास्तु के प्रमुख निदर्शनों में वेदिका-वास्तु, शाला-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु पर कुछ इंगित कर ही चुके हैं, अतः वैदिक-कालीन उपासना-परम्परा में बहुल देववाद का महान् अभिनिवेश प्रारम्भ हुआ था। अतः इन देवों की पूजा के लिये और उनको तृप्त करने के लिये तथा उनसे वरदान—आधिराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य—आदि के लिये यज्ञ के द्वारा ही उनको वशगत करने के लिये पूर्ण प्रयास किया। अतः तदर्थ याग-सम्बन्धी सवप्रमुख उपासना थी। याग-संस्था के लिये नाना-वास्तु-कृतियां भी अनिवार्य थीं। परन्तु इन पर हम विशेष प्रवचन आवश्यक नहीं समझते—पूर्व-पटल—मूलाधार में हम यह सब प्रतिपादित कर ही चुके हैं। अतः हमारा यह अध्ययन प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है। अतः प्रासाद की मूलभित्ति को जन्म देने का श्रेय वैदिक वाङ्मय और याग-संस्था ही है। प्रासाद की दो दृष्टियां हैं प्रथमा आकार दूसरी प्राण। प्रासाद् निराकार ब्रह्म की विराट् पुरुष की साकार प्रतिमा है प्रति कृति है। ऋग्वेद में जिन दो देवों का पूर्ण संकेत है और जिन का पूर्ण सम्बन्ध इस रचना और प्रतिष्ठा में वे हैं वास्तोष्पति तथा विश्वकर्मा। विश्वकर्मा आर्य वास्तुकला के सर्व प्राचीन तम तथा आदिम (primordial) स्थपति हैं। मय अनार्यों के सर्व प्राचीन-तम तथा आदिम स्थपति हैं। महाभारत में मयासुर के द्वारा निर्मित सभा भवनों (इन्द्र-सभा, यम सभा वरुण सभा) के उपाख्यानों से हम परिचित ही हैं। अब आइये वास्तोष्पति की ओर। हमारे देश में लगभग पांच हजार वर्ष से यह सनातनी परम्परा है कि कोई भी भवनारम्भ वास्तोष्पति मन्त्र के बिना कोई भी वास्तु-विन्यास प्रारम्भ नहीं किया जाता। यही वास्तोष्पति देव आगे चलकर वास्तु-पुरुष वास्तु ब्रह्म के रूप में विभावित किये गये। प्रासाद का अर्थ—सदन साद प्रकर्षेण साद प्रासादः अर्थात् जहां मान, धाम एवं विन्यास-पुरस्सर नियम-बद्ध इष्टिका-चयन निष्पन्न होता है, वही चिति है, वही चैत्य है, वहीं प्रासाद है। अतः इस मूलाधार के मूल्यांकन से कौन सी वास्तु-कृति इस वैदिक परम्परा से प्रभावित नहीं है। जहां तक ग्रामों, नगरों कुलों, गोत्रों—गोवाडों—गावः त्रायन्ते यस्मिन् इति गोत्रम्—गोपुरों आदि—इन वास्तु-कृतियों से इस स्तम्भ में हमारा प्रयोजन नहीं है। अतः वैदिक-कालीन प्रासाद-निवेश की देन स्वतः प्रकट है और विशेष विवरणों की यहां पर आवश्यकता नहीं है।

मौर्य-कालीन (ई पू० ४००

मौर्यकालीन वास्तु-कला के सम्बन्ध मे प्रौढ उपलब्धिया प्राप्त हुई हैं। ई० पू० पचम शतक मे मौर्यों की राज-सता की स्थापना हो ही चुकी थी। यह राज-सत्ता इस देश मे प्राय सर्वत्र एक विशाल साम्राज्य एव आधिराज्य स्थापित करने मे पूर्ण सफल हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्राट् के राज-वेश्म, राज-प्रासाद का जो वर्णन मैगस्थनीज के वृतान्त मे पाया गया है उससे तत्कालीन वास्तु-विकास का पूर्ण परिपाक समर्थित होता है। राज प्रासाद काष्ठमय था पाषाणीय नही था। ऐष्टिक वास्तु के प्रति विशेष अभिनिवेश नही था, अत ऐष्टिक एवं शिलामय द्रव्य देव-प्रतिमाओं मे ही विशेष प्रयोग किये जाते थे। पुराणो को एक-मात्र गुप्त-कालीन कृतियो अथवा सपादनो मे विभाजित करना अनुचित है। पुराणो एव आगमो का का आदेश था—शिलाकुड्य, शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत अतएव तत्कालीन समाज मे इस देश की आब हवा क अनुकूल मृन्मय, छाद्यमय, काष्ठमय आवास ही विशेष अनुकूल माने गये और यह परम्परा हमारे देश मे अब भी विद्यमान है। जहा तक वास्तु-कला के विकास, प्रोल्लास एव विकास की बात है उसका प्रतिबिम्ब इस स्थापत्य-निदर्शन (मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज-प्रासाद तथा अशोक का भी राजमहल-पाटलिपुत्र) मे प्राप्त होता है। कैसे सभा-भवन, कैसी अन्त शालायें, कैसे मनोज्ञ स्तम्भ कैसे प्राकार, कैसी परिखायें कैसे वप्र तथा अट्टालक—इन पूर्ण अलकृति के परिपाक मे विकसित हो रहे थे। यह सब जन-वास्तु एव राज-वास्तु की की बात है।

अब आइये, प्रासाद-वास्तु की ओर। दुर्भाग्य का विलास है कि इस काल मे पूजा-वास्तु के निदर्शन अनुपलब्ध है परन्तु मेरी दृष्टि म उस समय सभी भवनो राजभवनो या जन-भवनो मे सर्वथ एक स्थान निर्धारित कर दिया जाता था जिसे देवगार, देवकुल, देवनिकेतन् क नाम से पुकारा जाता था। यह हम प्रथम ही प्रतिपादित कर चुके है।

उत्तर-वैदिक-कालीन

ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक-कालीन प्रासाद-वास्तु की समीक्षा वास्तव मे कठिन ही है। वैदिक-काल एवं उत्तर वैदिक-काल के तिथि-निर्धारण मे ही बडे २ मत-भेद हैं तो फिर तत्कालीन जीवन-धारा की अवि-च्छिन्न-परम्परा का मूल्याकन सुकर नही है। अत हमे इस विवाद में न पड कर यहा इतना सकेत ही पर्याप्त है कि उत्तर-वैदिक-काल मे सूत्र-साहित्य को विज्ञानो के जन्म मे वडा श्रेय है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष—इन षडङ्ग वेदाङ्ग से हम परिचित हो हैं। उत्तर-वैदिक साहित्य में इस स्तम्भ में कल्प तथा ज्योतिष की ही देन का मूल्याकन आवश्यक है। हमने अपने आग्ल-ग्रन्थो में लिखा ही है कि यूनानियो ने विज्ञान को ज्यामिति (Geometry) से प्रारम्भ किया, हिन्दुओ ने भाषा-विज्ञान से किया। परन्तु इस समानान्तर धारा के साथ हिन्दुओ ने ज्यामिति को भी पूर्ण प्रश्रय दिया। कल्प-सूत्रों से तात्पर्य चतुर्विध सूत्रो से है—गृह्य, श्रौत, धर्म तथा शूल्व। शूल्व वेदि-रचना की माप मे सम्बन्ध है। धर्म से तात्पर्य चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं चातुराश्रम्य व्यवस्था से तात्पर्य है। पुनः शेष गृह्य एव श्रौत-सूत्रो का सम्बन्ध यजन-याग, पूजा-उपासना आदि से है जो गार्हस्थ्य यज्ञ एव सामाजिक एवं राष्ट्रीय यज्ञो से विशेष सम्बन्ध है। इन यज्ञ-वेदियो एवं यज्ञीय-निवेशो के मानादि, निर्माणादि एव द्रव्यादि ने ही आगे की प्रासाद-कला की मूल-भित्ति को प्रस्तुत करते हैं। अतः इस अत्यन्त स्वल्प सकेत के बाद अब हमें थोडा सा महाकाव्यों (रामायण एव महाभारत) की काल-गरिमा पर भी कुछ सकेत आवश्यक है। रामायण में सौधो, विमानो, गोपुरो, तोरणो, प्रकार-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि परिवेष्टित एवं अलकृत नगरों आदि नाना वास्तु-वैभवो के वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत मे तो सभा-वास्तु का महान् विलास प्रत्यक्ष है जिसका पूर्व-सकेत हो ही चुका है। पुन इस महाकाव्य मे अनेक तीर्थों, धामो, पुण्यतम सलिलाशयों, सरिताओ, पावन-कूलो का ही वर्णन नही है, वरन् मुख्य देव—त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव से सम्बन्धित अनेक स्थानों, स्थलों एवं आयतनो के वर्णन प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इस उत्तर-वैदिक काल में तो प्रासाद-वास्तु अवश्य वृद्धिंगत हो चुका था। हां यह

प्रवश्य सन्दिग्ध है कि मन्दिरों के निर्माण मे किन २ द्रव्यो का विशेप प्रचार था। महाभारत के काल से सम्बन्धित कुछ स्थलो की खुदाई से धातुश्रो एवं पाषाणों की बहुत सी उपलब्धियां प्राप्त हुई है। अतः पुरातत्वीयान्वेषण—इस तथ्य के भी पोषक है। अतः अब आइये ईसवरीय पूर्व-कालीन प्रासाद-वास्तु की भोर जो तिथिक्रम से श्रवश्य मनुसन्धत्त हो चुका है।



मौर्य-राजवंश—अशोक-कालीन स्थापत्य

यद्यपि मौर्य-काल मे पूजा वास्तु का प्राधान्य नही था तथापि भारतीय वास्तु—कला, जिस का मुख्य एवं मूर्धन्य प्रासाद कला है, उस के विकासमान बीज पूर्ण रूप से पल्लवित हो चुके थे। पाटलिपुत्र का निवेश एवं उसमे राज-भवन या राज-प्रासाद की रचना लौकिक-वास्तु (सेकुलर आर्किटेक्चर) का परम निदर्शन प्रस्तुत करते है। इस काल की वास्तु-कला का प्रधान निर्माण द्रव्य काष्ठ था। पाटलिपुत्र के ध्वसावशेषो मे जो प्राचीन स्मारक प्राप्त हुये है उनमे काष्ठ-मय प्रासाद के प्रौढ विकास का पूर्ण आभास मिलता है। हमने प्राचीन भारत के चार प्रमुख स्थपति वर्गों मे काष्ठ-कला कोविद वर्धकि का कौशल वास्तु-शास्त्र का एक अभिन्न अग माना गया है, तदनुरूप मौर्य—कालीन वास्तु-कला-वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त एव प्रशस्त दक्षता का निदर्शन है। पाटलिपुत्र की नगर रचना एव राजधानी निवेश की जो व्यवस्था थी वह प्राचीन भारतीय-वास्तु-शास्त्र के अनुरूप ही थी—अर्थात् प्राकार, परिखा से गुप्त एव हर्म्य आदि मण्डित तथा द्वार एव गोपुरो से सज्जित रक्षा—सविधान की परिपाटी प्रचलित। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र मे नगर-निवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है, उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है। अथच काष्ठमय प्रासादो के निर्माण में जहा काष्ठ—कला का वैशारद्य पर्ण-रूपेण परिलक्षित है, वहाँ उनमें भूषा विन्यास (पच्चीकारी) का भी कम कौशल नही है। वानस्पत्य विच्छित्तियो के साथ २ खग, मृग आदि पशु-प्रसार के चित्रण भी पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं।

मौर्य-वश के अमरकीर्ति प्रियदर्शी राजर्षि अशोक का सरक्षण पाकर भारतीय स्थापत्य निखर उठा। अशोक कालीन भारतीय स्थापत्य में विशेषकर बौद्ध-काल के विकास का श्रीगणेश माना जाता है, जिनमें निम्नलिखित छै वास्तु—विन्यास विशेष उल्लेख्य हैं —

१ चट्टानो पर उट्टकित शिला लेख
२ स्तूप
३ एक-पाषणीय स्तम्भ (monolithic pillars)

४. एक-पाषाणीय आयतन
५ राज-प्रासाद तथा
६ पार्वतीय शालायें

प्रकृत में यद्यपि इन निदर्शनो मे प्रासाद-कला का कोई आभास नही, परन्तु स्तूपो तथा आयतनो तथा प्रासाद-स्थापत्य की विच्छित्तियो एवं पार्वत-वास्तु के इन प्रारम्भो मे हिन्दू-प्रासाद के विकास एव उत्थान के बहुत से घटको के विकास-बीज अन्तर्हित हैं। अशोक के स्तम्भो की रचना से आगे के प्रासाद-स्तम्भो ने बहुत कुछ ग्रहण किया। प्रासाद के ध्वज-स्तम्भो की जो रचना आगे हम देखेंगे, उन पर अशोक के स्तम्भो का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। इन स्तम्भो पर गज अश्व, वृक्ष, वृष एव सिंह के चित्रणो मे प्राचीन वैदिक एव पौराणिक परम्परा प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत की अत्यन्त प्राचीन उपासना के नाना स्वरूपो मे वृक्ष-पूजा एक बड़ी प्रचलित संस्था थी। वृक्षो के प्रकाण्ड काण्ड की यह परम्परा पाषाण शिलाओ और पाषाण स्तम्भो म भी परिणत हुई। बहुत से चित्रणो मे यह दृश्य विद्यमान है। पूज्य स्तम्भों की परम्परा सम्भवत इस देश मे बहुत पुरानी है। बेसनगर के स्तम्भ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सम्भवत अशोक के द्वारा निर्मापित एव प्रतिष्ठापित इन अगणित स्तम्भो का उपलक्षण पूजा-वास्तु के रूप मे हम देख सकते हैं। इस प्रकार ये स्तम्भ देव रूप थे और आगे के मन्दिरो के अग्रजन्मा। इनके अतिरिक्त पार्वतीय-शालाओ को भी हम प्रासाद-वास्तु के उपायको एव नियामको मे परिगणित कर सकते हैं। इनकी विच्छित्तियां प्रासाद-शिखर-विच्छित्तियो के समान दर्शनीय हैं। पर्सी ब्राउन (देखिये इण्डियन आर्कीटैक्चर पृ० १०-१२) ने भी यह मत प्रकट किया है। अशोक कालीन इन पार्वत-शालाओ के निदर्शन बाराबर पर्वत-माला मे कर्ण-चौपर सुदामा लोमस-ऋषि विश्व-झोपड़ी, नागार्जुनी-पर्वत माला में गोपिका, वहिजका, वादलहिका के साथ सीता-मढ़ी-कर्ण मे भी द्रष्टव्य हैं।

टि० १. राज प्रासाद के सम्बन्ध मे हम पहले ही संकेत कर चुके हैं।

टि० २. पर्वत की पाषाण शिलायें प्रस्तर-प्रतिमाओं की पूर्वजा हैं—

अ. शालग्राम, बाण-लिङ्ग जो स्वयम्भू प्रतिमायें हैं।

ब. गृहे-गृहे गोवधन-पूजा—पर्वत-पूजा का प्रतिनिधित्व है।

टि० ३. प्रासादों की संज्ञायें पर्वतों से—मेरु, मन्दर, कैलास आदि (दे० अनुवाद)।

शुंग तथा आंध्र राजवंशों एवं वाकाटकों महीयान् तक्षण-स्थापत्य

अर्चा-गृहो एव अर्चक-निवासो के आरण्यक, पार्वतीय एव नागर स्थानो की निर्मिति मे सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुग एव आन्ध्र राजाओ ने दिया। यद्यपि इस काल की वास्तु-कृतियो के निर्माण मे विकास क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुल प्रयोग हुआ था अत वे कृतिया प्रत्यक्ष बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती है परन्तु साची, मथुरा, अमरावती, गान्धार, आदि के स्मारको मे चित्रित प्राचीन पूजा-गृहो (Primitive Shrines) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यों के बाद शुगवश का राज्यकाल आता है, पुन आन्ध्रो का। शुग सत्ता का उत्तर एव पश्चिम मे विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रो का दक्षिण म। आन्ध्रो ने अपने को दक्षिणेश्वर के नाम से स्वय सकीर्तन किया है। ये दोनो ही राजवश बडे उदार थे। अशोक के समय बौद्धकला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था वह इनके समय मे भी आगे बढता रहा। साची बरहुत आदि महा कला पीठो के विकास का श्रीगणेश इसी समय हुआ। विशेषता यह है कि इनके समय मे प्राचीन पूजा-गृहो (early shrines) के भी निर्माण हुये जो आगे चलकर हिन्दू-प्रासद की निर्माण-शैली की पूर्वजा प्रतिकृति (Prototype)बन। हिन्दू पूजा-गृहो मे इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियो मे बेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्व सावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनेक देव-स्थान निर्मित हुये जिन की समीक्षा भी यहा अवश्यक है। भिलसा के समीप बेसनगर मे स्थापित यह गरुड-स्तम्भ वासुदेव-विष्णु मन्दिर पुरातत्वीय दृष्टि से सर्वप्राचीन प्रासाद निदर्शन है।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास मे राज-कुल के सरक्षण का प्रभाव था ऐसा नही कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध विहार एव चैत्य थे और उन मे भी विभेद यह था कि उनके विकास की रूप रेखा मे बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओ—हीनयान एव महायान—की अपनी अपनी विशिष्टता के अनुरूप इन धार्मिक स्थानो, आवास-गृहों एव पूजा-गृहो की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ

एवं एक विशिष्ट कलाकृति गुहा-मन्दिर या लयन प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु Rock-cut-architecture—एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीठों में अमरावती सांची, अजन्ता, जुधार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उड़ीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्पा एवं गान्धार तथा तक्ष-शिला विशेष उल्लेख्य है।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास में यहां पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहां पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी? श्रम, अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बड़े २ पर्वतों को काट कर जो कला-भवन विनिर्मित हुए वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहां के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यों के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे, परन्तु वैदिक कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी। अतः पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ २ ईशवीयोत्तर शतकों में ऐष्टिक-भवन (brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्व-प्रथम उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ, बनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि में आती है। पर्सी ब्राउन (see Indian Architecture p 40) ने ऐष्ट भवनों को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमें अधिकांश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण मन्दिर' के नाम से उपश्लोकित है। इन मन्दिरों में कानपुर जिले में भीटर गांव का ऐष्टिक-प्रासाद बड़े महत्व का है जो इष्टिका चयन-कला की उदात्तता एवं पुष्टता पर ही प्रकाश नहीं डालता है, वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूप-रेखा का भी संकेत करता है। भीटर गांव के अतिरिक्त मध्यप्रदेश में रामपुर जिले में सरोद और मीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि में परिगणित किये गये हैं। बाम्बे प्रेसीडेंसी (आधुनिक महाराष्ट्र) में शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (shrines) भी इसी वर्ग-वृक्ष की वल्लरियां हैं।

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खजूर वृक्ष (जो नागों का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भारशिव-नाग-राजाओं के समय से ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण

भी मन्दिर के तोरण-चौखटो पर ग्रंकित होने लगा था। भूमरा ग्रौर देवगढ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के अनुपम प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी मन्दिर-निर्माण-कला मे कम देन न थी। इनके समय मे शिवालयो का विशेष प्राधान्य था जिनमे एक मुखी एवं चतुर्मुखी लिंगो की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरो का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्त-कालीन मन्दिरो की वास्तु-कला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा ग्रौर गुप्त-कालीन मन्दिरो की कला की लडी को जोडते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्रायः गुप्त-काल के है। सम्प्रदाय भेद से नाग-वाकाटको के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायनुरुप तथा गुप्त वंशियो के वैष्णव-सम्प्रदायनुरूप है।



सातवाहन-वास्तु-कला में प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य

उत्तरीय-दाक्षिणात्य-प्रदेशीय (the Northern Deccan) सातवाहन साम्राज्य के इस स्वर्ण-युग ने भारतीय स्थापत्य को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। साँची का स्तूप बौद्ध-प्रासाद ई० पू० प्रथम शतक के उत्तरार्ध का निर्माण है इसके चतुर्दिक् चार तोरण-गोपुर-द्वारों की आभा आज भी इस महनीय स्थापत्य—कला को जगमगा रही है। प्रतिमा-चित्रण(sculptures) जैसे लक्ष्मी आदि प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य की गाथा है। ये सब पूज्य एवं पूजा-वास्तु की स्थापना करते है। इसी काल में पश्चिम भारत के लयन प्रासाद जैसे भाज-गुफायें, कन्हेरी तथा कार्ली के चैत्य-मण्डप तथा नासिक-निकट पाण्डुलेन गुफायें भी इस युग के निदर्शन है।

सातवहनों ने ईशवीयारम्भ में पूर्वीय वेला को जीत लिया और बहुसख्यक स्तूपों की निर्मितियाँ प्रस्तुत की। इनमें नागराज की प्रतिमा भारतीय पाषाणी-कला का एक तत्कालीन महनीय निदर्शन है।

टि० पर्सी ब्राउन ने इन सातवाहनों के श्रेय का कोई संकेत नहीं किया—ये स्तूप शुगों तथा आन्ध्रों के काल में प्रचलित किये गये हैं जिसके विवरण पीछे भी दिये जा चुके हैं।

इक्ष्वाकु-शैली

शातवाहन-स्थापत्य का अवसान इसी शैली में सम्पन्न हुआ। ये इक्ष्वाकु आन्ध्र-भृत्यों के नाम से उपलोकित थे। जग्गय्यपेट्ट तथा नागार्जुनी-कोण्डा —ये दोनों प्रासाद-पीठ जगद्विश्रुत हैं। इन वास्तु-पीठों पर दीर्घ-स्तम्भ-बहुल मण्डप विशेष दर्शनीय हैं जो इन बौद्ध-विहारों—बौद्ध-प्रासादों से संवृत हैं। इन पीठों पर यक्ष-यक्षिणियों के मन्दिर भी दर्शनीय हैं। भगवान् कार्तिकेय का भी मन्दिर यहां पर द्रष्टव्य है। हर्मन गोट्ज—दी आर्ट आफ दी वर्ल्ड—इंडिया—पेज ६२—में इस प्रसिद्ध कला-इतिहास पर जो निम्न समीक्षा की है, वह वास्तव में सत्य है। अतः यह अवतारणीय है :—

"The characteristic features of the later South Indian temple, all turn up here for the first time in the third century. Similar Siva temple, shaped like Chaitya-halls, have survived at Ter and Chezarla (4th-5th centuries), and they have also been prototype for one part of the later Pallava temples (7th century)—

इस अवतरण से मेरी पूर्व समीक्षा अब इस विद्वान् से भी समर्थित हो जाती है कि—ब्राह्मण-मन्दिरों और बौद्ध-स्तूप-प्रासादों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

कलिंग-कला

कलिंग-कला दक्षिण-भारत-स्थापत्य के प्रोल्लास का श्रीगणेश करती है। प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुरूप कलिंग एक-मात्र दक्षिण ही नही वरन् इसका क्षेत्र आधुनिक उडीसा से विशेष सम्बन्धित है। प्राचीन उडीसा (कलिंग) खार्वेलो, मेघवाहनो और चेदियो के राज्यकाल मे तत्क्षेत्रीय कला का विशेष विकास जो आधुनिक अपनी गरिमा तथा कीर्ति की आभा से भारतीय-स्थापत्य को दीपित कर रहा है, वह है भुवनेश्वर। उसी के समकालीन एव पूर्व-कालीन क्षेत्र था शिशुपालगढ जिसकी सज्ञा कलिंग-नगर थी और वह भुवनेश्वर के दक्षिण पूर्व सन्निविष्ट था—इसकी चौडी परिखायें एव अष्ट-द्वार-भूषा आज भी विद्यमान है, वह भी स्थापत्य का विलास प्रस्तुत करता है। उदयगिरि की गुफायें कलिंग-कला की बडी ओजस्वी निर्मितियां हैं। हाथी गुफा मे यह आज भी आभा प्राप्त होती है।

जहा कलिंग कला का हम गान कर रहे है वहा हम शुगो और आन्ध्रो की देन को विस्मृत नही कर सकते। सर्व-प्रथम कलिगो एव आन्ध्रो की कला का कीर्तन बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत मे सम्बधित है। सिंहल-द्वीप (लका), ब्रह्मदेश (बर्मा), मलाया कम्बोडिया, आसाम आदि प्रदेशो मे जो कला निदर्शन दिखाई पडते है—वे सब कलिंगो, आन्ध्रो का ही विस्तार प्रभाव प्रत्यक्ष है। मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, असम आदि द्वीपान्तर भारत मे अर्थात् दक्षिण पूर्वी एशिया म जो तक्षण-कला प्रोल्लसित हुई उस पर अमरावती का प्रभाव प्रति-बिम्बित होता है।

टि० प्रस्तु इन विभिन्न प्राचीन वशो के इस स्वल्प सकीर्तन के उपरान्त एक तथ्य भी निर्देश्य है कि ज्योंही ईसवीय सवत् प्रारम्भ हुआ त्योंही इस देश मे विदेशियो के आगमन से एक नई धारा—मिश्रण धारा (commingling of cultures) बहने लगी। यूनानियो, मेसीडोनियों तथा शकों, पार्थियो सीथियो के ही प्रभाव से तक्षशिला तथा गान्धार कलाओ का (Clasical Art) विकसित हो गया।

लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद

बौद्ध-भवन जैसे स्तूप, चैत्य, विहार तथा गुहा-मन्दिर—ये सभी हमारे प्रासाद-निवेश की कोटि मे ही गतार्थ किये जा सकते हैं—इस पर हम पीछे भी कह चुके है कि वास्तु-शास्त्र एवं शिल्प-शास्त्र मे जो हिन्दू प्रासाद अर्थात् मन्दिरो की जो नामावलियां दी गई हैं जैसे मेरू, मन्दर, कैलाश आदि आदि —वे भी यह पूर्ण-रूप से परिपुष्ट करते हैं कि हमारे प्रासाद-स्थापत्य का विकास सर्व-प्रथम बौद्धो के अर्चागृहो (चैत्यो) तथा अर्चक निवासो (विहारो), संघारामो से ही प्रादुर्भाव हुआ है। जहाँ तक बौद्ध-स्तूपो की बात है वह एक प्रकार से प्रतीकात्मक अर्च्य-स्मारक हैं ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी ऐसे संकेत मिलते हैं जो स्तूप-स्थापत्य का प्रदर्शन करते है। किसी महापुरुष के मरणोपरान्त उसके ध्यान एवं स्मरण के लिये इसी प्रकार स्तूप बनाये जाते थे। अतएव महात्मा बुद्ध के मरणोपरान्त इसी प्रतीकत्व के आधार पर स्तूप निर्मितियां प्रारम्भ हुई। हिन्दू प्रासाद (मन्दिर) का आकृति पर्वताकार ही है। अतएव आकार और नाम दोनो इस तथ्य का पोषण करते हैं कि समरांगण सूत्रधार मे प्रासाद वर्गों मे लयन-प्रासाद, गुहाधर प्रासाद गुहराज-प्रासाद सकीर्तित किये गये हैं। इस दृष्टि से शास्त्र और कला दोनो का स्वतः समन्वय प्रस्तुत हो जाता है। हमारे देश मे गुहा-निवास सनातन से चला आ रहा है; अतएव भारतीय स्थापत्य मे जो लयन प्रासाद जैसे लोमस, ऋषि, खडगिरि, उदयगिरि, हाथी-गुम्फा भाज, कोण्डन, कार्ली अजन्ता, एलौरा, मामल्लपुर आदि आदि ये सभी पीठ इन लयनादि प्रासादो के सुन्दर निदर्शन हैं।

वास्तु-शास्त्र के अनुसार जो पद प्रयुक्त किये गये हैं जैसे लयन गुहराज तथा गुहाधर इस दृष्टि से उपर्युक्त निदर्शन लयन के निदर्शन हैं। गुहाधार प्रासाद अजन्ता की गुफाओ में भैलिमालायमान निदर्शन है। एलोरा और मामल्लपुर के मन्दिर गुह-राज के नाम से हम सकीर्तित कर सकते हैं।

गान्धार वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य वास्तु —महायान बौद्ध भक्ति सम्प्रदाय के क्रोड मे आधुनिक विद्वानो ने भारतीय वास्तु-कला के मूलाधारो नही किया कला संस्कृति का मुकुर माना जाता है। जब भारत इस महादेश की संस्कृति के सम्बन्ध मे सभी विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि संस्कृति एक ही है तो फिर कलाओ को विशेष कर प्रासाद कला—Temple-architecture

को विभिन्न वर्गों मे अथवा विभिन्न श्रेणियो मे कैसे बाटा जा सकता है? पीछे के स्तम्भ मे प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास पर जो मूलाधार हैं उनके विवरण दिये ही जा चुके है। अत बौद्ध अर्चा-गृहो तथा ब्राह्मण अथवा जैन अर्चा-गृहो मे थोडे से आन्तरिक भेद-घटक अवश्य दिखाई पडते हैं। परन्तु जहा तक मूलाधारो की बात है, वे एक ही हैं। प्रासाद का अर्थ एक-मात्र मन्दिर से ही नही है। प्रासाद, वैदिक चिति, बौद्ध स्तूप, बौद्ध चैत्य—इन सभी में गतार्थ होता है। जो भी पूजा एव पूजा-वास्तु है वही प्रासाद है। इस दृष्टि से तथा कथित बौद्ध-धर्म मे उत्थित महायान सम्प्रदाय में जो भक्ति धारा बही, उसका स्रोत पौराणिक धारा ही थी। हम सब लोग यह जानते ही है कि पूजा के इतिहास में बडे बडे परिवर्तन हुये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हम पूजा को तीन वर्गों में बाट सकते है वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र। वैदिक पूजा से तात्पर्य इष्टि से है और मिश्र से तात्पर्य पौराणिक पूजा से है जिससे तात्पर्य है देव-पूजा, तीर्थ-यात्रा, देवालयो का निर्माण, वापी कूप आदि जलाशयो का निर्माण एव दानादि उत्सर्ग। इस महायान सम्प्रदाय की भक्ति-धारा के इतिहास में दो महान् प्रभाव प्रादुर्भूत हुये हैं। एक पौराणिक और दूसरा तान्त्रिक। प्राचीन, पूर्व-मध्य कालीन जो महायान सम्प्रदाय था उसमे पौराणिक प्रभाव विशेष था। आगे चलकर तन्त्रो का जो उद्दाम विकास हुआ उसने समस्त समाज को आक्रान्त कर लिया था। अतएव महायान में ही काल-यान, वज्र-यान, सुख-यान (महासुखवाद) आदि नाना सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हो गया। तन्त्र का सर्वांगीण प्रभाव भारतीय स्थापत्य ही विशेष निदर्शन है।

इस उपोद्घात के अनन्तर अब हमें पाठको को इतना ही सकेत करना था कि भारतीय कला को हम एक ही प्रकार के मूलाधारों मे गतार्थ कर सकते हैं, अतएव हम इस ग्रन्थ यथानाम प्रासाद-निवेश म बौद्ध पूजा एव पूज्य वास्तु को नही छूटा सकते हैं

अब आइये गान्धार की ओर। गान्धार को आधुनिक विद्वानो ने चार सास्कृतिक धाराओ अथवा चार जातियो का सगम माना है अर्थात् यूनानी पार्थियन, शीथियन तथा हिन्दू। हमें इस प्रकरण मे विशेष विवरणों मे जाने की आवश्यकता नही है। बहुत दिनो से एक बडा विवाद चला आ रहा था कि बौद्ध प्रतिमायें जो गान्धार की बुद्ध मूर्तिया हैं, उनकी निर्मिति म कौन सी कला है भारतीय या यूनानी ? कला के क्रोड में किस मूलाधार को कवलित किया जा

सकता है। यह प्रकृत विषय विशेषकर पूजा एवं पूज्य-वास्तु-पीठों से सम्बन्ध रखता है तथापि यहां पर यह कहना संगत नहीं कि ये प्रतिमायें सर्वथा यूनान की देन हैं। यह धारणा बिलकुल भ्रान्त है। ईसा से पूर्व बहुत पहले हमारे देश में मूर्ति-कला (तक्षण-कला) विकसित हो चुकी थी। ईसा से पूर्व वैदिक सभ्यता के अनुरूप यज्ञ-संस्था सर्वदा विलीन नहीं थी। इसलिये मूर्तियों के निर्माण में लोगों ने विशेष अभिनिवेश नहीं पनपने दिया। बहुत से विद्वानों ने यहां तक लिख डाला है कि वैदिक-काल में प्रतिमा पूजा तो थी ही नहीं—यह बिलकुल गलत है। इस महादेश में उस समय दो महान् जातियां अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप जीवन यापन कर रहे थे। अतएव आचार-विचार, उपासना एवं अन्य संस्थाओं में एक दूसरे से अपना अपना वैशिष्ट्य रखते थे। जब हमें सिन्धु-घाटी की सभ्यता में नाना मूर्तियों के निदर्शन प्राप्त होते हैं, तो वैदिक वाङ्मय में भी प्रतिमाओं के अनेक साहित्यिक सदर्भ प्राप्त होते हैं तो हम यह कैसे मान सकते हैं कि यह प्रतिमा कला उस समय इस देश में बिलकुल विकसित नहीं हुई थी।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षा के उपरान्त अब हमें गान्धार केन्द्र की स्थापत्य विशेषता का कुछ मूल्यांकन करना है। इस प्रसिद्ध पीठ पर दो प्रकार के निदर्शन प्राप्त होते हैं —स्तूप तथा सघाराम। स्तूप और सघाराम पूज्य और पूजकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार अफगानिस्तान, पेशावर, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के प्रासाद-पीठ प्राप्त होते हैं। पर्सी ब्राउन ने इस स्तम्भ पर काफी प्रकाश डाला है वह वहीं पाठनीय है।

इसी स्तम्भ में हमें उत्तर से दक्षिण की ओर भी मुड़ना है और साथ ही साथ मध्य-देश के उत्तुंग बौद्ध-मन्दिरों पर भी दृष्टिपात करना है।



अ. हीनयान वर्ग—ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक

१. विहार—संख्या ८

२ चैत्य सभा-भवन—संख्या ९

३ चैत्य-सभा-भवन— ,, १०

४-५. विहार—संख्या १२ तथा १३

टि०—विश्रान्ति—ईसवीयोत्तर द्वितीय से ४५० तक

ब. महायान-वर्ग—ईसवीयोत्तर ४५०-६४२

६-८ विहार—संख्या ११, ७ तथा ६—४६०—५०० ई०

९-१३ ,, ,, १५, १६, १७, १८ तथा २०— ,, ई०

१४ चैत्य सभा-भवन—१९—५५० ई०

१५-१९ विहार—संख्या २१ से २५—५५० ६०० ई०

२० चैत्य-सभा-भवन—संख्या २६ ,, ,,

२१-२५ विहार—संख्या १ से ५—६००—६२५ ई०

२६-२७ ,, ,, २७ तथा २९—६२५—६४२



उत्तरापथीय ऐष्टिक वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास

वास्तु-कला के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पर्सी ब्राउन ने ऐष्टिक-वास्तु (brick-building) का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म की छत्र-छाया माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। पिछले स्तम्भों में हमने प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर वैदिक-चिति की अमिट छाप पर प्रौढ़ प्रकाश डाला ही है। अतः आधुनिक योरोपियन लेखकों को हमारे प्रासाद जन्म की इस समीक्षा के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं था। आधुनिक वास्तु-कला-लेखकों ने पुरातत्वीय दृष्टि से ही भारतीय वास्तु-कला के इतिहास पर समीक्षा की है। यह सभी जानते हैं कि कला सभ्यता और संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तथा मूर्धन्य प्रतीक है। अतः जब तक हम कलाओं के विकास के आधार-भौतिक अथवा मौलिक भित्तियों का मूल्यांकन नहीं करते तब तब हम कलाओं की समीक्षा पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं। पूजा-वास्तु अर्थात् मण्डपों का जन्म और विकास कहां से हुआ - इन सभी की अग्रजा अथवा जननी वैदिक चिति है।

वैदिक चिति की सर्व प्रमुख-रचना ऐष्टिक-वास्तु थी तो फिर ईसवीयोत्तर काल में हीनयान सम्प्रदाय के क्रोड में ही ऐष्टिक-वास्तु का जन्म हुआ तो यह कैसे संगत समीक्षा मानी जा सकती है। हां यह एक तथ्य है कि हमारे देश में पाषाण-कला (पार्वत-वास्तु) भी काफी समृद्ध थी जो नाग तक्षकों की देन थी। आर्य ऐष्टिक-वास्तु के जन्मदाता हैं। अनार्य अर्थात् द्राविड़ या नाग या असुर पाषाण वास्तु के महान् प्रसिद्ध तक्षक एवं सुदक्ष कला-विद थे। डा० जायसवाल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारशिव नाग पाषाण-कला के परम प्रसिद्ध तक्षक एवं प्रवीण थे।

अत यहां इन दो भिन्नताओं को दूर करने के लिये यह अवश्य माना जावे कि वैदिक युग के उपरान्त ऐष्टिक-वास्तु बहुत शिथिल हो चुका थी। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक संसर्ग आदान-प्रदान, आचार-विचार, रीति-रिवाज—अपने आप एक महा-संगम की धारा हमारे इस देश में प्रस्फुटित हो गई। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस देश में ईसवीय पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले ऐष्टिक-वास्तु पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। मोहेंजोदारो

अ. हीनयान-वर्ग—ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक

१. विहार—संख्या ८

२ चैत्य-सभा-भवन—संख्या ९

३ चैत्य-सभा-भवन— ,, १०

४-५. विहार—संख्या १२ तथा १३

टि०—विश्रान्ति—ईसवीयोत्तर द्वितीय से ४५० तक

ब महायान-वर्ग—ईसवीयोत्तर ४५०-६४२

६-८ विहार—संख्या ११, ७ तथा ६—४६०—५०० ई०

९-१३ ,, ,, १५, १६, १७, १८ तथा २०— ,, ई०

१४ चैत्य सभा-भवन—१९—५५० ई०

१५-१९ विहार—संख्या २१ से २५—५५० ६०० ई०

२०. चैत्य-सभा-भवन—संख्या २६ ,, ,,

२१-२५ विहार—संख्या १ से ५—६००—६२५ ई०

२६-२७ ,, ,, २७ तथा २९—६२५—६४२



उत्तरापथीय ऐष्टिक वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास

वास्तु-कला के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पर्सी ब्राउन ने ऐष्टिक-वास्तु (brick-building) का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म की छत्र छाया माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। पिछले स्तम्भों में हमने प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर वैदिक-चिति की अमिट छाप पर प्रौढ़ प्रकाश डाला ही है। अतः आधुनिक योरोपियन लेखकों को हमारे प्रासाद जन्म की इस समीक्षा के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं था। आधुनिक वास्तु-कला-लेखकों ने पुरातत्वीय दृष्टि से ही भारतीय वास्तु-कला के इतिहास पर समीक्षा की है। यह सभी जानते हैं कि कला सभ्यता और संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तथा मूर्धन्य प्रतीक है। अतः जब तक हम कलाओं के विकास के आधार-भौतिक अथवा मौलिक भित्तियों का मूल्यांकन नहीं करते तब तक हम कलाओं की समीक्षा पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं। पूजा-वास्तु अर्थात् मण्डपों का जन्म और विकास कहां से हुआ इन सभी की अग्रजा अथवा जननी वैदिक चिति है।

वैदिक चिति की सर्व प्रमुख-रचना ऐष्टिक-वास्तु थी तो फिर ईसवीयोत्तर काल में हीनयान सम्प्रदाय के क्रोड में ही ऐष्टिक-वास्तु का जन्म हुआ तो यह कैसे संगत समीक्षा मानी जा सकती है। हां यह एक तथ्य है कि हमारे देश में पाषाण-कला (पार्वत-वास्तु) भी काफी समृद्ध थी जो नाग तक्षकों की देन थी। आर्य ऐष्टिक-वास्तु के जन्मदाता हैं। अनार्य अर्थात् द्राविड या नाग या असुर पाषाण वास्तु के महान् प्रसिद्ध तक्षक एवं कुशल कला-विद थे। डा॰ जायसवाल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारशिव नाग पाषाण-कला के परम प्रसिद्ध तक्षक एवं प्रवीण थे।

अतः यहां इन दो भिन्नताओं को दूर करने के लिये यह अवश्य माना जाये कि वैदिक युग के उपरान्त ऐष्टिक-वास्तु बहुत शिथिल हो चुका थी। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक सम्पर्क आदान प्रदान, आचार-विचार, रीति-रिवाज—अपने आप एक महा-संगम की धारा हमारे इस देश में प्रस्फुटित हो गई। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस देश में ईसवीय पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले ऐष्टिक-वास्तु पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। मोहेनजोदाडो

और हड़प्पा की खुदाई से भी इस प्राचीन ऐष्टिक-वास्तु का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत हो जाता है। पुन कालान्तर पाकर जब बडे २ संघर्ष उपस्थित हो पड़े, नानान जातियो का यहा पर प्रभाव भी पडा तो बहुत कुछ सम्मिश्रण अपने आप उपस्थित हो गये। इतिहास साक्षी है कि जब कोई भी परम्परा असाधारण कारणो के द्वारा विलुप्त हो जाती है, तो वह अपने आप पुनर्जन्म एव विकास के लिये प्रयत्नशील हो जाती है। ईसवीयोत्तर काल मे इस देश म ऐष्टिक-वास्तु ने अपनी प्राचीन परम्परा को पुन पल्लवित, पुष्पित एव विकसित होने के लिये कदम उठाया, जिसका श्रेय यहा के तत्कालीन वदान्य नरेशो को है।

वास्तु-द्रव्य की विधायें नाना हैं—मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण तथा इष्टिकायें।

आधुनिक लेखको ने पाषाणीय अथवा ऐष्टिक या काष्ठमय भवनो के सम्बन्ध मे ही कुछ लिख सके हैं। हमारी शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप भवनो की चार प्रमुख श्रेणिया थी—आवास भवन (Residential Houses) जन-भवन (Public Buildings) जैसे सभा, धर्मशाला विश्रान्ति-भवन प्रक्षा गृह, नाट्य-सगीत-नृत्य आदि-शालाएँ, राजभवन तथा देव भवन। जहा तक आवास-भवनो की कथा है कि हमारे देश मे सनातन से आवास-भवनो के लिये मृत्तिका अथवा काष्ठ ही का प्रयोग होता आया है। इसका प्रमुख कारण देश की जलवायु से सम्बन्ध है। अत यह देश उष्ण-प्रधान देश है, अत पुराणो और आगमो का आदेश है—शिलाकुड्य शिला स्तम्भ—नरावासे न योजयेत—अतएव जहा हमारे देश में देव भवनो और राज-भवनो के निर्माण में शिला का तो अवश्य प्रयोग हुआ परन्तु आवास-भवन सदैव मृण्मय-भवन उपयुक्त माने गये हैं। इनकी वास्तु-शास्त्रीय सज्ञा शाल-भवन हैं। इनपर हम विशेष विवरण अपने भवन-निवेश में दे ही चुके है। इन शाल-भवनो (छाद्य-भवनो) की मूल भित्ति पर छाद्य-प्रासादो, सभा-मण्डपो का विकास हुआ। जहा तक काष्ठ-निर्माण-द्रव्य की बात है, उसका परम निदर्शन पाटलिपुत्र स्थित अशोक का राज प्रासाद जगत-प्रसिद्ध है, जिसमें हमें उसके विवरणो पर विशेष अभिनिवश की आवश्यकता नही है। अस्तु इस समीक्षा के उपरान्त अब हम आधुनिक लेखको का अनुसन्धान अनुकरण आवश्यक नही है।

यह ग्रन्थ प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है, अत प्रासाद-कला के ऐतिहासिक

विहगावलोकन में जो हम ने अभी तक जो समीक्षा प्रस्तुत की है उसके उपरान्त हमे इस वास्तु-सागर को तीन महाधाराओ के कूलो पर विचरण करना है। पहली धारा दाक्षिणत्य कला है, दूसरी धारा उत्तरापथीय है और तीसरी धारा को हम वृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत—के रूप में परिकल्पित कर पाते है। महाधाराओ के साथ कुछ क्षुद्र धाराओ का भी अवगाहन करना होगा, जैसे पूर्वी धारा (बगाल) बिहार (आसाम) उत्तर पश्चिम-धारा (काश्मीर नैपाल आदि)। अस्तु, अत्यन्त सूक्ष्म उपोद्घात के उपरान्त अब हमें पहली महाधारा दाक्षिणात्य प्रासाद कला की ओर जाना है।



दक्षिणापथीय-विमान

द्राविड प्रासाद

(भौमिक विमान)

तथा

वावाट (वैराट) प्रासाद

१ चालुक्य-वंशीय

२. पल्लव–वंशीय

३ चोल वंशीय

४ पाण्ड्य वंशीय

५ होयसल-वंशीय

६. राष्ट्रकूट-वंशीय

७. विजयनग राज वंशीय

८ मदुरा नायक-वंशीय

नाग-तक्षकों की ही देन है। इस पर कुछ सकेत पाठकों को आगे भी मिलेगा।

यद्यपि हमने दक्षिण के प्रासादों को भौमिक विमानों में ही परिकल्पित किया है तथापि शिखर-विन्यास जो नागर-शिखरोत्तम-प्रासाद का मूर्धन्य कौशल है, उसमें भी पल्लवों की महती देन है। इस देन का श्रीगणेश ऐयोहल, पट्टद-कल (वातापि) से प्रारम्भ हुआ है। इसका रहस्य उत्कल अथवा कलिंग नरेशों का इस प्रदेश के नरेशों के साथ संसर्ग लगभग पांचवीं शताब्दी में जो हुआ था वह इतिहास साक्षी है कि इसी के द्वारा उत्तरापथीय प्रासाद-वास्तु की भंगिमा, नाना-शिखर-विच्छित्तियों से निखर उठीं। इस शिखर विन्यास-विच्छित्तियों पर हम आगे के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे। (दे० मेरी समीक्षा तथा पर्सी ब्राउन का समर्थन—भुवनेश्वर मण्डल)। अब आइए प्रकृत की ओर।

भौमिक विमानों के सम्बन्ध में वास्तु-कला की दृष्टि से हम निम्नलिखित तीन घटकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं :—

अ—विमान प्रासाद की प्रमुख विशेषता भूमिकायें हैं—ये भूमिकायें एक-भूमि से ले कर द्वादश-भूमियों तक साधारण विन्यास है।

ब—प्रत्येक भूमि पर क्षुद्र-विमान अथवा हर्म्य अथवा अल्प-विमान उत्थित होता है।

स—प्रत्येक भूमि-भित्ति संवृत होती है, जो अल्प-प्रासादों से घिरी हुई होती है।

इस प्रकार नाना भूमियों और उनके सम्भार-बाहुल्यों का जब एकाकार प्रस्तुत होता है तो यह आकार पैरेमिड का रूप धारण करता है। इसीलिये दक्षिण के प्रासादों को Paramidal Form के रूप में विभावित किया गया है, और यह आकार किसी भी दाक्षिणात्य प्रसिद्ध प्रासाद पीठ देखें जैसे तंजौर (बृहदीश्वर), मदुरा (मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर), रामेश्वर आदि आदि उन पर यही आभा निभालनीय है।

जहां शिखरोत्तम प्रासादों का सर्वोच्च अलंकरण आमलक है वहां इन भौमिक-विमानों पर स्तूपिका ही सर्वातिशायिनी विशेषता है। अब हमें एक महान् ऐतिहासिक क्रान्ति की ओर भी जाना है। हम सहमत हैं कि उत्तर भारत में जो सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एवं कलात्मक स्वर्णिम-युग का जन्म

गुप्त-काल मे प्रारम्भ हुआ, वैसा ही प्रोल्लास दक्षिण-भारत मे पल्लवो के काल मे प्रारम्भ हुआ। जहा पर उत्तर भारत मे इस सास्कृतिक विकास का श्रेय पुराणो को है जिन्होने ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भव्य धारा को बहाकर इस आवर्त को पुनीत कर दिया था, उसी प्रकार यह दक्षिण भारत भी इसी धारा के अनुरूप अपनी विशेषता से विकसित हुआ। यह बहुत पुरानी कथा है कि महामुनि अगस्त्य ने ही दक्षिण भारत को आर्य-सभ्यता से आक्रान्त किया था। तथापि इस देश की मौलिक भित्ति का यदि हम मूल्याकन नही करते तो यह समीक्षा अधूरी रह जाती है। जहा उत्तर भारत मे पौराणिक धर्म का साम्राज्य था तो दाक्षिणात्यो ने अपने पुराण आगमो की सज्ञा से रचे, जिनमे शिव का ही माहात्म्य था। जिस प्रकार भगवान् विष्णु का आधिराज्य उत्तर मे था, उसी प्रकार शिव का आधिराज्य दक्षिण मे था। परन्तु इस महादेश की सास्कृतिक, धार्मिक, एवं कलात्मक प्रगतियो की एकता के लिय हमारे सतो ने महान् योगदान दिया। एक समय था कि वैष्णवो एव शैवो म एक महान् सघर्ष उपस्थित हो गया था। अत इसको दूर करने के लिय दक्षिण के तामिल नयनार तथा अलवार संतो ने तामिल भाषा म एक सार्वजनिक भक्ति धारा का प्रसार कर दिया जिसमे शिव और विष्णु दोनो की गाथा गाई गई। इन्होने तामिल-पुराणो की रचना की। *भारतीय ऋषियो महर्षियो, सतो, महन्तो की इस विशाल बुद्धि* को हम विस्मृत नही कर सकते। अब मै बडी देन समन्वय विचारधारा (synthetic and syncristic movement) की जिसके द्वारा तथाकथित घोर विरोधी धर्म अर्थात् बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक महात्मा बुद्ध को यहा के महापण्डितो ने विष्णु के दशमावतार से परिगणित कर बौद्ध-धर्म को यहा से एकमात्र निकाल कर आत्मसात कर लिया तो फिर इस क्षुद्र वैष्णव-शैव-विरोध एक क्षण म इन लोगो ने दूर कर दिया। अतएव क्या उत्तरापथ क्या दक्षिणापथ सर्वत्र ही शिव एव विष्णु दोनो की पूरी २ महिमा, गरिमा निखर उठी। अस्तु इस समीक्षा के बाद अब हम इस दाक्षिणात्य-प्रासाद कला को निम्नलिखित अष्टवर्गो म विभाजित करते है।

दक्षिण-कला के विकास मे निम्नलिखित सात राजकुलो की वरेण्य वदान्यता एव वरिष्ठ प्रासाद-कला सरक्षण प्रस्तावनीय :—

१. चालुक्य-नरेश (४५०; १०५०—१२००)

२. पल्लव राजवंश (६००-६००)

३. चोल राजवंश (६००-११५०)

४. पाण्ड्य-नरेश (११००-१३५०)

५ होयसल-नरेश (१०५०—१३००)

६ राष्ट्रकूट-वंश

७. विजयनगर-नरेश (१३५०-१५६५)

८. मदुरा-नायक-राजा (१६००)

टि० चूंकि चालुक्य-काल तीन कालों में विभाज्य है, अतः इन तीनों कालों को एक ही साथ ले सकेंगे—दे० चोलों के बाद।



पल्लव-राजवंशीय-प्रासाद-स्थापत्य-इतिहास

चालुक्य-प्रासाद-कला—टि० इस पर हम आगे चालुक्यों के तीनो कालों को एक साथ रखेंगे अतः पल्लवों से प्रारम्भ करते है।

द्राविड देश मे द्राविडी शैली के विकास मे पल्लव-राजवंश के संरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओं के अनन्तर द्राविड देश की राज-सत्ता पल्लवो के हाथ मे आई और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राज सत्ता का सीमा प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कलाकृतियो की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र मे इनके राज-पीठ कजीवरम (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण वैभव का प्रसार तंजौर तथा पुडुकोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशो तक पहुंचा।

इस काल के पल्लव राजवंश म चार प्रधान नरेश हुए, जिनके नाम पर पल्लवों की वास्तु कृतियों में भी चार वर्ग किये गये है। इनमें विशेषता यह है कि इन चारो वर्गों को वास्तव मे वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है—प्रथम में आपूर्ण पार्वत वास्तु (Wholly Rock-cut) के निदर्शन तथा द्वितीय मे आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly Structural) के निदर्शन आवर्तित होते है। यहा पर पूर्व-संकेतिक चार राजाओं के कालक्रमानुसार वर्ग निम्नलिखित चार विभाजनीय है

१—महेन्द्र-मण्डल (६१० ६४०) मण्डप-निर्माण—पार्वत वास्तु

२—मामल्ल-मण्डल (६४०-६६०) विमानों एवं रथों का निर्माण

३—राजसिंह-मण्डल (६६०-८००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट वास्तु

४—नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-६००) विमान (मन्दिर) निर्माण—निविष्ट-वास्तु

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतिया मंदगपट्टू, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम्, मोगलार्जुनपुरम् आदि नाना स्थानो पर फैली हुई हैं। द्वितीय

वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहा के सप्त-रथ (Seven Pagodas) की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथो का सकीर्तन पञ्च पाण्डवो और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, सहदेव, गणेश आदि।

तृतीय वर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहा-मन्दिरों के तक्षण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानो एव प्रासादो की ओर मुडते हैं। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था, जिसके काल मे मामल्लपुरम् पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मुकुन्द। पनमलाई (S. Arcot Distt.) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरुमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थ वर्ग पल्लव-राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल मे विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव एव साहित्य-वैभव राज सत्ता के वैभव की निशानी है। अतः जब राज-सत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीन होना ही पडता है। इस अन्तिम वर्ग मे प्रमुख निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर, चिंगलपट में ओरगदम् के वदमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

अन्त में पल्लवो की इस महादेन में सर्वप्रथम विशेषता का प्रारम्भ गोपुर-विन्यास, मण्डप-विन्यास, अन्धारिका (Circum ambulatory passage) विशेष उल्लेखनीय हैं। पल्लव प्रासादो में कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पेरुमल विशेष उल्लेखनीय हैं जो इन अङ्गोपाङ्गो का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

.चोल-राजवंश में प्रोत्थित प्रासाद-कला

चोलों का युग दक्षिण भारत में मध्यकालीन स्वर्णिम युग के नाम से उप-श्लोकित किया जा सकता है। इसी युग में मन्दिर-नगर विकसित हुये चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंग विमान-प्रासाद विकसित हुये। चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंगातितुंग विमान जैसे बृहदेश्वर, राज-राजेश्वर विनिर्मित हुये। साथ ही साथ पहले के मन्दिर-पीठों पर विभिन्न निर्मितियों से उनका विस्तार किया गया। आगे पाण्ड्यों की भी यही विशेषता हम देखेंगे। इस प्रकार चोलों को ही श्रेय है कि यह दाक्षिणात्य कला इस प्रकार से पूर्ण रूप से विकसित एवं स्थापित हो गई। सबसे बड़ी विशेषता प्रासाद-निवेश में प्राकारों का विन्यास गोपुरों का विनिवेश तड़ागों की स्थापना नट मंडपों, व्यान मंडपों, कल्याण-मंडपों तथा परिवार-मन्दिरों जैसे उमा-पार्वती, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय तथा गणेश (अर्थात् शिव मन्दिरों में) विस्तार किया गया।

इस विस्तार के अतिरिक्त शैली में भी अतिरंजन और विच्छित्ति वैभव भी प्रोल्लसित हो गया। सिंह-शार्दूल-चित्रणों से भूषित स्तम्भ पट्टिकाएँ, वर्तुल विमानाकृति, भूमि-विस्तार विशेष उल्लेख्य हैं। सभा-भवन उपचार-भवन, आदि-आदि ने जो प्रासाद-प्रतिमा को राजोचित उपचारों एवं सम्भारों से भूषित कर दिया वह भी इसी काल की विशेषता है। चोलों के ही समय में गोपुरों की आभा प्रासादों से बढ़ गई। गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद जैसे के तैसे रहे परन्तु गोपुर विशेष स्थापत्य कौशल एवं रचना एवं विच्छित्तियों में खूब बढ़ गये। चिदम्बरम तथा त्रिवेन्द्रम के पद्मनाभ स्वामी के गोपुरों का मूल्यांकन आज भी हम उसी दृष्टि से कर सकते हैं। चोलों के राज्य काल की प्रभुता लगभग १५० वर्ष (६००-११५०) तक रही और इसी काल में विशेषकर उत्तर चोल-काल में लगभग १०० मन्दिरों का निर्माण हुआ। चोलों के आधिराज्य में लगभग ७० मन्दिर-नगरियों की प्रसिद्धि हो गई जो कन्याकुमारी से लेकर कृष्णा नदी के अधरोत्तर भाग तक फैले हुए थे। इनमें प्रसिद्ध मन्दिरों की विशेष प्रस्तावना प्रस्तुत करेंगे।

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता संघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में

पल्लवो, चोलो, चालुक्यो, पाण्ड्यो एव राष्ट्रकूटो—सभी ने इस काल (९००-११५०) मे अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामत चोलो के प्रभुता-सघर्ष मे विजय-श्री ने उन्हें ही वरा।

चोलो की प्रासाद-कला को दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र-कृतिया तथा बृहत्तर विशाल-कृतिया। यत अपने शासन-काल के प्रभात मे वे राज्य की दृढता, सुरक्षा एव सीमा-विस्तार मे लगे रहे, अत १०वी शताब्दी की कृतिया पुडुक्कोट्टाई के इतस्तत विनिर्मित हुई जिन्हे क्षुद्र कृतियो के रूप मे ही परिगणित किया जा सकता है। इनमे निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं :

क्षुद्र कृतियां

प्रासाद	पीठ	प्रासाद	पीठ
सुन्दरेश्वर	तिरूक्ट्टलाई	मुचकुन्देश्वर	कोलटूर
विजयलय	नरतमलाई	कदम्बर	कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)
मुवरकोइल (त्रि-आयतन)	कोडुम्बेलूर	बालसुब्रह्मण्य	कन्नौर,

इसी प्रकार चोलो की अन्य कृतिया सुदूर दक्षिण अरकाट जिले मे भी पाई जाती हैं। ये सभी कृतिया १०वी शताब्दी की हैं।

विशाल कृतिया

चोलो की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतिया चोलो के बृहत्तर एव विशाल राज्य-विस्तार एव महान् ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। ये हैं—तञ्जौर का बृहदीश्वर-मन्दिर तथा गगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद कारक यजमान महामहीपति राजाधिराज राजराज (९८५ १०१८) है, जिसने अपनी अपार धनराशि एव लोकोत्तर वैभव को देवचरणो मे समर्पित करने के लिए यह महा-अनुष्ठान ठाना। ऊचाई मे और प्रकार म दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एव अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। द्वितीय अर्थात् गगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८-१०३०) सम्भवत अपने पूर्वज से प्रति-स्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलो की अनुपम कृतियो म भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्पादन की पराकाष्ठा पहुच गयी। यद्यपि सख्या कम है परन्तु गुणातिरेक मे चोलो का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड्यनरेशों के युग में विमान-वास्तु में नई आकृतियों तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००-१३५०)

चोलों की राज्य सत्ता के बाद दक्षिण भारत में पाण्ड्यों की प्रभुता का आविर्भाव हो गया। पाण्ड्य नरेशों की भावना विशेषकर पौराणिक पूर्त-धर्म की ओर अग्रसर हुई। इन्होंने नवीन प्रासाद-विमानों की रचना के प्रति विशेष अभिनिवेश न रखकर पूर्त-धर्म के अन्तर्गत जीर्णोद्धार-व्यवस्था के लिए सर्व-प्रथम [illegible]। साथ ही साथ इन नरेशों ने दाक्षिणात्य वास्तु में जो चोलों ने विस्तार-पद्धति अर्थात् गोपुरों और प्राकारों के निवेश का श्रीगणेश किया था, उसको इन्होंने और भी महती आस्था और वदान्यता के साथ इस पथ को और भी आगे बढ़ाया। प्रसिद्ध मन्दिर-नगरों के सम्बन्ध में हम कुछ पहले ही संकेत कर चुके हैं, परन्तु पाण्ड्यों ने वास्तव में बड़ी बुद्धिमत्ता से दूर एवं [illegible] विकीर्ण नाना क्षेत्रों में मन्दिरों का जीर्णोद्धार प्रारम्भ कर दिया और साथ ही साथ इन पवित्र धामों और पीठों पर प्राकारों और गोपुरों की नवीन रचनाएँ प्रारम्भ कर दीं।

दाक्षिणात्य वास्तु कला में एक अभिनव वास्तु-चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरों का प्राकार-विन्यास तथा मन्दिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुंग गोपुरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छित्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी जैसे कञ्जीवरम् के कैलाशनाथ-मन्दिर, तथापि यह परम्परा पूर्ण रूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वविनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद-पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर-वास्तु-कला की सविस्तर समीक्षा का यहां पर अवसर नहीं है। पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दारासुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

यहां पर कतिपय पाण्ड्य गोपुर-विन्यासों का समुल्लेखन आवश्यक है। चिदम्बरम् का सुन्दर पाण्ड्य गोपुरम्, तिरुवन्नमलाई, कुम्भकोणम्, श्रीरंगम् तथा जम्बुकेश्वरम् इन प्रासाद-पीठों पर गोपुरों की रचना का श्रेय पाण्ड्यों को है। तञ्जौर के, दारासुरम् के प्रसिद्ध मन्दिर पर जिस गोपुर का निर्माण इन्हों ने कराया वह दाक्षिणात्य कला की दृष्टि से बड़ा ही उत्कृष्ट माना जा सकता है और यही रचना आगे चलकर विजयनगरम् की प्रासाद-कला का घटक बन गया। दक्षिण भारत का अनन्य प्रसिद्ध मदुरा-स्थित मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर पाण्ड्यों की प्रमुख देन है। जब मुसलमानों ने १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस मन्दिर की महिमा को नष्ट कर दी तो पुनः आगे चलकर तिरुमलाई नायकों ने १७ वीं शताब्दी में महान् सम्भार के साथ जीर्णोद्धार के द्वारा जो इसकी पुनः प्रतिष्ठा की और नाना रचनाओं की योजना की इससे यह मन्दिर दक्षिण का सर्वप्रख्यात प्रासाद-पीठ बन गया। त्रिभुवनम् पर स्थित रंगनाथ पीरु-वन्नमल नामक रंगनाथ-मन्दिर भी पाण्ड्यों की ही देन है।

चालुक्य-नरेशों के राज्य-काल में प्रोल्लसित प्रासादों की समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि चालुक्यों की प्रासाद-रचना दक्षिण भारत में सर्वप्रथम गति थी, परन्तु दक्षिण-भारत के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं कि चालुक्य-नरेशों के तीन राज्यकाल माने जाते हैं— पूर्ववर्ती (Eaily), परवर्ती (Later) तथा पश्चिमीय (Westrn)। अतः हमने इस ग्रंथ में चालुक्यों के तीनों कालों में जो प्रासाद-कला विकसित हुई, प्रवृद्ध हुई—इसकी समीक्षा इसी एक स्तम्भ में करना विशेष उचित माना है।

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तु-कला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी, वैसी ही उसी काल में (४५० ६५० तथा ६००-७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य-नरेशों के संरक्षण में यह कला दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल बादामी (वातापि) तथा पट्टदकल—इन तीन चालुक्य-राज-पीठों पर शताश देवायतनों, विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ। इन प्राचीन राज-पीठों पर वास्तु पीठों का जो विकास हुआ उनमें उत्तरापथीय तथा दाक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुपूर्विक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (ये उत्तर-शैली में) तथा सगमेश्वर विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन जगन्नाथ, सुन्मश्वर आदि (दाक्षिणात्य वास्तु-शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इस अत्यन्त स्थूल उपोद्घात के बाद अब हम पाठकों का ध्यान भी आकर्षित करना है कि पूर्ववर्तीय चालुक्य कर्नाटक के माण्डलिक नरेश थे। छठी शताब्दी में पुलकेशिन प्रथम सत्याश्रय ने अपने को कर्नाटक राज्य-सत्ता से स्वाधीन घोषित कर दिया और आयोहल की राजधानी से वातापि (बादामी) पर अपनी राजधानी स्थापित कर दी। यह एक प्रकार से पार्वत्य उपत्यका थी अतः यह किलाबन्दी से सुदृढ हो गई थी। पूर्व मकत के अनुसार जब चालुक्यों की राज सत्ता में तीन अवान्तर विस्फोट और प्रस्फोट हुये तो उनकी कला-कृतियों की धाराएँ भी अपने आप प्रादुर्भूत हो गई। अतः चालुक्यों की राजधानियां तीन थी—आयहोल, बादामी तथा पट्टदकल। और इन,

तीनों पीठों पर नाना मन्दिरों की रचना हुई। अतः हम इन चालुक्य प्रासादों की कृतियों को हम निम्नलिखित तीन वर्गों में पीठानुसार वर्णित करेंगे :

१. ग्रयोहल मंडल

यहां पर पर विशेषकर शिव-मन्दिरों में जो प्रासाद बने हैं, उनको आधुनिक वास्तु-लेखकों ने बौद्ध-विहारों के रूप में मूल्यांकन किया है। यह धारणा भ्रान्त है कि शिल्प-शास्त्रों में विशेषकर समरांगण सूत्रधार में जो नाना प्रासाद-जातियों का उल्लेख है, उनमें सर्वप्रथम स्थान छाद्य-प्रासाद तथा सभामंडप-प्रासाद की जाति-संकीर्तन प्राप्त होता है अतः मेरी दृष्टि में ये प्रासाद बौद्ध-विहार के क्रोड में कवलित नहीं किये जा सकते हैं। आयोहल का सर्व-प्राचीन मन्दिर दुर्गा-मन्दिर है जिसको हम सभा-मंडप-प्रासाद के रूप में ले सकते हैं। हम पहले भी यह कह चुके हैं कि ब्राह्मण-वास्तु और बौद्ध वास्तु एक ही मूल की शाखाएँ हैं अतः यदि हम इसे चैत्य-मंडप, सभा-मण्डप के रूप में कहें तो भी अनुचित नहीं। विहार, छाद्य-प्रासाद, चैत्य, सभा मंडप सब एक ही हैं। हम यहां पर यह भी कहना चाहते हैं कि इस दुर्गा-मन्दिर का तक्षण-कौशल पूर्ववर्ती गुप्त-नरेशों की कला का पूर्ण प्रतिबिम्बन ही नहीं करते बल्कि अनुपम भी प्रस्तुत करते है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त हुच्ची-मल्ली-गुड्डी तथा नागनाथ मन्दिर भी एक नया युग उपस्थित करते हैं। ये यहां पर नागर एवं द्राविड शैलियां का संगम उपस्थित करते हैं। इन मन्दिरों में शिखरोत्तम प्रासाद तथा भौमिक विमानों दोनों का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ माना जा सकता है। आयोहल पर स्थित कुटी-आमर जैन मन्दिर नागर-शैली का पूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है।

२ वातापि (बादामी) मण्डल

चालुक्य नरेशों की यह दूसरी राजधानी है। इसका प्राकृतिक वातावरण बड़ा ही आकर्षक है। साथ ही साथ पार्वत्य प्राकारों के द्वारा यह एक प्रकार से बड़ी सुदृढ़ नगरी थी। इस राजधानी में उपत्यकाओं एवं शिखरों दोनों पर मन्दिर प्रोथित हुये। अजन्ता के लयन-प्रासादों (गुहा-मन्दिरों) के समान यह भी छटा प्रस्तुत करते हैं। इन मन्दिरों में दो मन्दिर शिवालय हैं। इन में सर्वोच्च शिव-मन्दिर स्थापत्य एवं तक्षण दोनों दृष्टियों से बड़ा ही अनुपम प्रासाद माना जा सकता है। यहां पर शिल्प एवं चित्र दोनों के

स्वर्गीय आधिराज्य मे महती आभा से यह दीप्यमान बन गया है । विष्णु की एक बहुत बृहदाकार मूर्ति देखने योग्य है । सुन्दरी देवियों के चित्र भी तथा दीवालो पर विमुग्धकारी चित्र तथा प्रासाद-स्तम्भ एवं पट्टिकाएँ भी दर्शनीय हैं ।

चित्रकला का सर्वप्रथम निदर्शन प्राचीन प्रासादों मे यही एक स्थान है। इन तीनो मन्दिरो के अतिरिक्त और मन्दिर आधुनिक विद्वानो ने स्वतन्त्र सम्थान माने है विशेषकर मैलेगिट्टी शिवालय— इसका निदर्शन प्रस्तुत करता है । हमने अपने अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थो मे विद्वानो के सामने यह पहिला उन्मेष रक्खा है कि नागर-कला मे प्रोल्यित शिखरोत्तम प्रासादो के विकास का श्रेय इसी स्थान को है अतएव इस पीठ पर गुप्त एवं पल्लव दोनो की स्थापत्य विशेषता दृष्टव्य हैं। यहा पर नटराज शिव के चित्रण भी प्राप्त होते है जो पल्लवो का प्रभाव माना जा सकता है।

३ पट्टदकल मण्डल

चालुक्यो की यह नौमगी राजधानी है और दक्षिण म इसे पवित्र तीर्थ भी मानते हैं । यहा पर अनेक मन्दिर निर्मित हुवे । ७वी शताब्दी मे शैवो और वैष्णवो का घोर सघर्ष उठ खड़ा था । जहा उत्तर मे विष्णु-महिमा वहा दक्षिण मे शिव-महिमा थी । इसी सघर्ष-युग मे इसी राजधानी पर जो विष्णु मन्दिर था उसको शिव पापानाथ के रूप मे पुनर्प्रतिष्ठा के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया और साथ ही साथ पावन-स्तम्भ सभा-मडप का निर्माण कराया गया ।

इन मन्दिरो के अतिरिक्त विजयेश्वर (आजकल सगमेश्वर) लोकेश्वर (आजकल विरूपाक्ष) तथा त्रैलोकेश्वर (आजकल मल्लिकार्जुन) यह सब पल्लवो का ही प्रभाव था।

एलौरा —चालुक्यो के स्थापत्य की इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हम एलौरा को नहीं भुला सकते । एलौरा का कैलाश कानी के कैलाश नाथ का ही एक प्रकार का विस्तार है जो इसको हम अपनी शिल्पारिभाषा मे लयन और गुहाधर से आगे बढ़कर गुहराज प्रासाद के रूप म विभावित कर सकते हैं ।

पश्चिमीय चालुक्य —इन विवरणो से पूर्ववर्तीय और परवर्तीय चालुक्यो की देन का मूल्याकन कर सकते है। परन्तु यह समीक्षा पूरी नहीं हो सकती,

जब तक हम पश्चिमी चालुक्यों को इस स्तम्भ में नहीं लाते हैं। तैल द्वितीय, जिसने राष्ट्रकूटों का सर्वनाश किया था, उसी ने पुन बादमी के चालुक्यों की वंश-परम्परा का पुनरुत्थान किया। यद्यपि इन पश्चिमी चालुक्यों का (९७३-१२००) आधिराज्य न तो बहुत दिन तक रहा और न बहुत बड़े क्षेत्र पर फैल सका तथापि इनकी देन बहुत बड़ी थी। दक्षिण का मध्यकालीन स्थापत्य इन्हीं की वदान्यता का प्रतिफल है। साथ ही साथ शैली में भी कुछ नई उपचेतनाएँ हुई। इन चालुक्यों के मन्दिर लगभग सौ संख्या में कृष्णा, तुंगभद्रा तथा भीमा इन तीनों नदियों की उच्च उपत्यकाओं में ही फैली हुई हैं। इनमें निम्नलिखित निदर्शन विशेष उल्लेखनीय है —

	स्थान	संज्ञा
१	कुक्कनूर	कल्लेश्वर
२	लक्कुन्डी	काशीविश्वेश्वर
३	लक्कुन्डी	जैन-मन्दिर
४	हवेरी	सिद्धेश्वर
५	हंगल	तारकेश्वर
६	बालकापुर	अरवहुसम्बद
७	इट्टगी	महादेव
८	दम्बल	दादावसप्पा
९	कुरुवट्टी	मल्लिकार्जुन
१०	गडग	सोमेश्वर



होयसाल नरेशों की देन

आधुनिक लेखकों ने होयसालों और राष्ट्र-कूटों को एक प्रकार से भुला दिया। जिस प्रकार दक्षिण-नरेशों में इनकी विशेष गणना नहीं जहां तक प्रासाद-कला की बात है, उसी प्रकार उत्तर में प्रतीहारों तथा कान्य-कुब्ज-नरेशों का भी मूल्यांकन नहीं हुआ। अतएव हम इस ग्रन्थ में इन राज-वंशों को लाकर अपना ऋण चुकाना चाहते हैं। ये होयसाल नरेश मैसूर महल से सम्बन्ध रखते हैं। ११वीं शताब्दी में ये स्वतन्त्र हो गये और अपनी राजधानी को इसी स्थान पर स्थापित किया जो १०२२-१३४२ तक चलती रही। यह काल एक प्रकार से महती उद्दाम-विचार-धारा का प्रतीक बन गया। इसी काल में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के सुधार (Reforms) का उपदेश किया गया। इन उपदेशकों में विशेषकर कीर्तनीय हैं—शैवों में लिंगायत और वैष्णवों में रामानुज, माधव और निम्बार्क।

जहां उत्तर भारत में नागरी शैली में अलकृति-प्रमुख शैली को जन्म देने का श्रेय गुर्जरों को है तथा इसी शैली में प्रोल्लसित प्रासादों को लाट-प्रासादों के नाम से पुकारते हैं उसी प्रकार दक्षिण में इन होयसालों ने इसी प्रकार के अलकृति-पूर्ण विस्तार-प्रस्तार-बाहुल्य विमानों का निर्माण कराया। अतः इस विस्तार-माला की निम्न रचना-सूची प्रस्तुत करते हैं —

बलि-मण्डप	महामण्डप या अन्तराल
शुकनासी	गम्भुखीन स्तम्भबहुल अर्ध मण्डप
नवरंग	पूजा-सभा-भवन
सन्निधि	वृहत् मन्दिर
महाद्वार	गोपुर
यज्ञ-शाला	
वाहन-मण्डप	नन्दी, गरुड आदि देव-वाहनों के मण्डप
कोष्ठागार	
पाक-शाला	

कूट एवं कोष्ठ, पञ्जर, पुष्प-पोतिका दे० वा० शि० प०

राष्ट्रकूटों की महती अभिख्या

राट्रकूटो की राजधानी एलौरा अथवा इलापुर जगद्-विख्यात है। इनकी सर्वोत्तम कृति (master piece) एलोरा का कैलाश-मन्दिर है। यह स्थान तत्कालीन विभिन्न धर्मों का सगम-स्थान था जहा पर ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध सभी के मन्दिर बने। राष्ट्र-कूटो का यह श्रेय बड़ा ही उत्कृष्ट है। प्रसिद्ध जर्मन के लेखक हर्मान गोट्स का माकूत है कि दीचपल्ली, बोधन तथा सन्दूर ये मन्दिर-पीठ राष्ट्रकूटो की ही देन हैं, जहा पर यह शैली पश्चिमीय चालुक्यो से ही प्रभावित हुई है।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प स कीर्तन के उपरान्त महामहिमामयी स्थापत्य-गरिमा के प्रतीक ऐलोरा-गुहाघर-मन्दिरो की निम्न तालिका प्रस्तुत करते है। यहा जैसा सकेत है सभी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं:—

	मंदिर		संज्ञा
१	विहार	(बौद्ध)	धेरावारा
२	सभा-भवन	,,	
३	विहार	,,	
४-८	,,	,,	महारावाडा
७	विहार-सवृत	,,	
१०	चैत्य-सभा-भवन	,,	विश्वकर्मा
११-१२	विहार	,,	दो थाल तीन थाल
१३	क्षुद्र सभा-भवन	ब्राह्मण	
१४	मन्दिर	,,	रावण की खाई
१५	,,	,,	दशावतार
१६	,,	,,	कैलाश
२१	,,	,,	रामेश्वर
२५	,,	,,	कुम्मारवाडा
२७	,,	,,	ग्वालिनी गुहा
२९	,,	,,	डूमारलेन (सीता नहनी)
३३	—	जैन	इन्द्र-सभा जगन्नाथ सभा
,,		,,	

विजय--नगर

जहा पूर्व मध्यकाल मे चालुक्यो उत्तर का मध्य-काल में चोलो का प्रासाद-निवेश में गहरा योगदान था, उसी प्रकार विजयनगर-साम्राज्य ने भारतीय-स्थापत्य में एक नया जागरण प्रादुर्भूत कर दिया। गोट्स महोदय की निम्न-लिखित समीक्षा मेरी दृष्टि में ठीक ही है –

"Of no other period of India's past we know so many, so impressive and so richly decorated temples, halls, enclosures, gateways, votive images in stone and bronze murals etc "

राज-हर्म्य एवं देव प्रासाद दोनो ही उत्तुग शिखर पर विराजमान हो गये हैं। जिस प्रकार से राजा के लिए नाना-उपचारोचित, विलासोचित तथा वासोचित नाना उपकरण अनिवार्य थे उसी प्रकार मन्दिर की देवता के लिए भी इसी प्रकार के सम्भार अनिवार्य हो गये। विजयनगर की सत्ता में दाक्षिणात्य स्थापत्य-कला एक प्रकार से मनोरम-कला (Fine Art) बन गई। हमारे शिल्प-शास्त्र मे वास्तु, शिल्प और चित्र, संगीत तथा काव्य के समान ही मनोरम कला मानी गई हैं। विजय-नगरीय मन्दिरो मे कल्पना, कविता तथा नृत्य तीनो मिलकर एक नई स्फूर्ति, नवीन चेतना, नवीनतम उद्भावनाओं का प्रारम्भ करते हैं। इन मन्दिरो मे कल्याण-मडप प्रथम उपन्यास है। विजयनगर इस प्रसिद्ध नगर के भौमिक विमानो और प्रासादो का निम्नलिखित सूची प्रस्तुत करते हैं —

१ विट्ठलस्वामिन

२ हजाराम

३ हजराकृष्ण

४ पट्टाभिरामस्वामी

५ पम्पापति

इस शैली मे निर्मित अन्य मन्दिर-पीठो की सूची है—वेल्लूर, तिरुपती, लेपाक्षी अथवा काञ्ची, ताडपत्री तथा श्रीशैलम्। काची के एकाम्रेश्वर का दक्षिण गोपुर, ताडपत्री का कल्याण-मडप, श्रीशैलम् का मल्लिकार्जुन—ये सब नवीन निर्मितियों मे विभाव्य हैं।

—:o:—

मदुरा के नायकों का चरमोत्कर्ष

मदुरा दक्षिण भारत के स्थापत्य का चरमोत्कर्ष माना जाता है। इस १६ वीं शताब्दी के बाद इस प्रदेश पर नायकों का आधिराज्य चमक उठा। मदुरा के तथा अन्य पीठों जैसे श्रीरंगम्, त्रिचनापल्ली आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिर सब नायकों की ही देन हैं। हा मदुरा शैली एक प्रकार से पाड्यो की शैली का पुनरुत्थान एव पुनर्जागरण करती है।

मयाचार्य ने मयमत की रचना बहुत पुराने समय में की थी। मयमत की प्रासाद परिभाषा में न केवल गर्भ-गृह एक-मात्र प्रासाद है वरन् मडप, प्रपा, शाला, रगमण्डप, प्राकार गोपुर भी इसी परिभाषा में लाये गये हैं। अतः यह परिभाषा वास्तव में १७ वीं शताब्दी में ही पूर्ण रूप से आदर्श बनी। मदुरा शैली में विनिर्मित मन्दिरो म सर्वप्रमुख विशेषताएँ गोपुर, मडप और प्राकार हैं। मदुरा के मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मन्दिर की ओर मुडें तो सबसे बडी आभा गोपुरो की छटा है। सर्वोत्कृष्ट विन्यास मडपो का, सर्व-प्रकृष्ट विन्यास प्राकारो का और ये ही बीज अन्य इसी काल में उत्थित प्रासाद-विमानों की सुषुमा हैं। यहा पर एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि मन्दिरों का निर्माण तथा मूर्तियो की स्थापना तथा जलाशयो का निर्माण—ये सब प्रतिष्ठा तथा उत्सर्ग—पौराणिक पूर्त धर्म का ही विकास है। जहा महाराजाओ अधिराजाओ, माडलिको आदि ने मन्दिर-निर्माण में महान् योग-दान दिया वहा जनता भी पीछे नही हटी। इन नाना मन्दिर-पीठो पर अनेक परिवारो तथा धार्मिक लोगों ने अपने अपने नाम से नाना मडपो की रचना कराई, जलाशय बनवाये। कोई मडप सहस्र मडप है अर्थात् हजार खम्भो वाला कोई शतमडप है अर्थात् सौ खम्भो वाला। इन्ही विन्यासो से दक्षिण भारत में इसी काल में ये मन्दिर-नगर बन गये। अन्त में हम एतत्कालीन मदुरा शैली में निर्मित लगभग ३० मन्दिरो की सूची में निम्नलिखित प्रमुख मन्दिरो की अवतारणा करते हैं—

स्थान	सज्ञा
मदुरा	मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर तथा सहस्रमण्डप
२—श्रीरंगम् मन्दिर	अनन्तशायी नारायण (रगनाथ)
३-४—जम्बुकेश्वर तथा चिदम्बरम्	८—तिरुवग्नमलाई
५—तिरुवरुर	९—श्रीविल्लीपुत्तुर
६—रामेश्वरम्	१०—वरदराज पेरुमल (काञ्ची)
७—तिन्नेवेल्ली	११—कुम्भ-कोणम् (रामस्वामी)

उत्तरापथीय प्रासाद

नागर-प्रासाद

तथा

लाट-प्रासाद

१ केसरी एवं गाङ्ग राजाओं का श्रेय – उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उडीसा) —भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी ,

२ प्रतिहारो गूर्जरो एवं चंदेलो की देन बुन्देल खण्ड बघेल खण्ड ,

३ कलचुरियो एवं परमारों की वदान्यता—मध्यभारत एवं राजस्थान एवं उदयपुर ग्वालियर आदि,

४ सोलंकी राजवंश का परम अभियान—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड

५ हेमदपन्त के द्वारा प्रोल्लसित प्रासाद सुदूर दक्षिण—(खान देश)

६ साधारणजनो की भावना मे मथुरा-वृन्दावन –प्रोल्लास

उत्तर भारत—उत्तरापथीय महाविशाल प्रसाद-क्षेत्र की ओर

उपोद्घातः—सर्व-प्रथम एक बड़ी गहन गवेषणात्मक मीमांसा यह करनी है कि उत्तरापथ की स्थापत्य शैली, जिसको नागर शैली के रूप में विभावित किया गया है, उसका जन्म, विकास कैसे प्रादुर्भाव हुआ? पुरातत्वीय अन्वेषणों में प्राप्त सामग्री के आधार पर भारतीय स्थापत्य-कला में सर्वप्राचीन तथा सर्वप्रमुख निदर्शन भीटर गाव का मंदिर माना जाता है। इस मन्दिर का निर्माण ईसवीय शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित माना जाता है। यह मन्दिर ऐष्टिक वास्तु का सर्वप्रचीन निदर्शन है। यह प्रारम्भ एक-मात्र इसी क्षेत्र में सीमित नहीं। अतः उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में निम्नलिखित तीन क्षेत्र विशेष माने जाते हैं—

अ—भीटर गाव—उत्तर-प्रदेश कानपुर तथा निकटीय क्षेत्र

ब—सीरपुर तथा खरोद (जिला रायपुर) मध्यप्रदेश,

स—तेर – शोलापुर (महाराष्ट्र) के निकटीय।

भीटर गाव का मन्दिर—पाचवी शताब्दी में निर्मित माना गया है और इसे एक अत्यन्त विलक्षण एवं प्रकृष्ट शैली में एकमात्र निदर्शन प्रकल्पित किया गया है। पुरातत्वीय दृष्टि से नागर-शैली का यह प्रथम निदर्शन है।

उत्तरापथीय स्थापत्य-कला के विकास का प्रथम श्रेय गुप्त नरेशों को दिया गया है परन्तु गुप्तों के स्वर्णिम समृद्ध काल में प्रोल्लसित प्रासाद-कला की समीक्षा के समक्ष हमें एक यथापूर्व-संकेतित विषय की समीक्षा भी करना आवश्यक है। यह नागर-शैली में विशिष्ट विकास-परम्परा अर्थात् शिखरोत्तम-प्रासाद का कैसे जन्म हुआ और किस को श्रेय है। आधुनिक विद्वानों ने गुप्तों और पल्लवों को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की क्रमशः प्रासाद-कला के उन्नायक-प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। जिस प्रकार उत्तर में गुप्तों की नई

अवतारणा, नये आविर्भाव (new emergences)। उसी प्रकार दक्षिण मे पल्लवो के द्वारा इन्ही अवतारणाओ के आविर्भाव माने जाते हैं। जब आधुनिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि उत्तरापथ के इस गुप्तकालीन स्थापत्य मे सीथियन तथा हैलेनेस्टिक प्रभाव तथा प्रत्यक्ष घटक हैं अर्थात् विदेशी प्रभाव स्वीकृत हैं पुनश्च चालुक्यो, पल्लवो की कला मे कोई विदेशी प्रभाव नही माना गया है तो फिर सबसे बडा प्रश्न यह उठता है कि प्रासाद-कला – विशेषकर शिखरोत्तम तथा भौमिक विमानो के विकास में कौन अनुज है और कौन अनुज नही है। दक्षिण का वास्तु तथा शिल्प पूर्ण रूप से पौराणिक विचार, धर्म एव भक्ति का अनुवाद है। यद्यपि जैसा हमने पहले भी सकेत किया है कि जहा शैवो और वैष्णवो का सघर्ष था वहा इस पुराण-गगा ने ही यह पारस्परिक विरोध का उन्मूलन कर तीर्थ-राज प्रयाग की गगा-यमुना की सगम-धारा के अनुरूप धार्मिक आस्था एव भक्ति-भावना तथा समन्वय (synthesis) प्रादुर्भूत कर दिया। यह समन्वय सार्वजनिक धार्मिक सम्प्रदाय को है, जिसका पथ-प्रदर्शन नायनार तथा आलवार सतो ने किया था।

अब पुन प्रश्न उपस्थित होता है कि दाक्षिणात्य और उत्तरापथीय इस प्रासाद-कला के उद्भावक कौन थे? जहा तक दक्षिण की बात है उसके सम्बन्ध मे बहुत से विद्वानो ने (विशेषकर ह गोट्स) पल्लवो को ही प्रथम उन्नायक माना है। मेरी दृष्टी मे यह धारणा ठीक नही है। मैं तो और भी आगे जाना चाहता हू कि चालुक्य ही उत्तरापथीय और दक्षिणापथीय दोनो शैलियो के प्रथम उन्नायक तथा प्रतिष्ठापक हैं। जिस प्रकार से उत्तर भारत मे तथा मध्य भारत मे गुप्तकालीन प्रासाद रचना का उदय हुआ उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी यह उदय चालुक्यो का श्रेय है। आदि चालुक्यो की प्रथम राजधानियो मे आयोह्ल तथा बादामी मे जो प्रासाद निदर्शन प्राप्त होते हैं उनमें सर्व-प्रमुख (दे० इन्डियन आर्किटेक्चर पेज, १०१) जो उन्होने विवेचन किया है वह भी मेरी समीक्षा का पूर्ण पोषण करता है।

"A type of temple in a primitive Indo-Aryan style had begun to appear as far south as in the territory of the Chaulukyans as early as the sixth century A D, implying that it may have originated in that quarter. That there can have been any direct

connection between the early Chalukyan structures on the south-west, and the temples of Ganjam on the east is somewhat improbable but the fact remains that certain architectural affinities are observable which suggest a linking up of the temple design in these two divergent places If such a correlation is admitted, it may be traced to the political contract which no doubt existed between the Ganga Kings of Western India on the one hand, and the Ganga dynasty of Kalinganara, now the modern Mukhalingam, on the other It was from their capital in Ganjam that the country of Kalinga at present called Orissa, was administered by the Eastern Gangas from about A D 600. By some such means the cultural activities of the Early Chalukyans may have been conveyed to this region on the east, where, begining from the eighth century certain architectural forms appear, which bear a resemblance to those produced slightly earlier at Aihole and Pattadakal" Indian Architecture —Buddhist & Hindu Period—P Brown—n. ed p 101.

इस प्रकार से हम महाभारत की इन दोनों शैलियों का यद्यपि समानान्तर प्रसार दोनों प्रदेशों पर होता रहा है, तथापि उपर्युक्त अवतरण से यह सिद्ध हो जाता है कि चालुक्यों का नागर-शैली के उन्नयन और विकास में बड़ा योगदान है। आयोहल और बादामी में स्थित दुर्गा-मन्दिर तथा नादस्थान इन दोनों में शिखर और मंडप प्राचीनतम निदर्शन हैं।

इस समीक्षा के उपरान्त अब हम उत्तरापथीय वास्तु-कला का क्षेत्रानुरूप मूल्यांकन करेंगे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र में उत्तरापथीय वास्तु शैली नागर-शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और नम्रा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राज-पीठों में ही हुआ। अतः कला की समीक्षा का वर्णन राजवंशानुक्रम (Dynastically) से विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर-भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था। अतः उत्तरी प्रासाद-कला को राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने

समीक्षा करने में कठिनता अनुभव की है। तदनुरूप स्थानीय केन्द्रों से इस शैली का विवेचन किया गया।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (local developments) के अनुरूप स्थानीय-कला-केन्द्रों का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थित किया जाता है —

१—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी,
२—बुन्देलखण्ड—खजुराहो,
३—मध्य भारत एवं राजस्थान,
४—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़,
५—सुदूर दक्षिण (खान-देश),
६—मथुरा-वृन्दावन।

स्थानानुषङ्ग के प्राधान्य का संकेत करने पर भी हम राजवंशानुक्रम को भी नहीं छोड़ सकेंगे। अस्तु, इस स्वल्प उपोद्घात के अनन्तर अब हमें कुछ थोड़ी सी और भी मीमांसा करनी है।

आधुनिक विद्वानों ने प्रतीहारों का कोई विशेष रूप में संकेत नहीं किया है। प्रतीहारों का राज्य पूर्व मध्यकाल में कन्नौज, गुजरात तथा राजस्थान में फैला हुआ था। ये प्रतीहार कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सम्राट् थे और गुर्जर-जातियों एवं राजपूतों के भी ये ही उस समय शासक थे। राजपूत वंश इन्हीं प्रतीहारों से ही उतरे। इन वंशों को गुर्जर-प्रतीहार, चाहमान, कच्छपघट, चापोत्कट (आधुनिक छावड़ा) सोलंकी, परमार, चन्द्रात्रेय, कलचुरि-हैहय के नाम से कीर्तन किया गया। यहां पर इन प्रतीहारों की धार्मिक, आस्था तथा कला-प्रियता की ओर कुछ संकेत करना आवश्यक है। ये लोग गोरख-नाथ पंथ में रहस्यवाद की ओर वैयक्तिक दृष्टि से जरूर आस्था रखते थे लेकिन इनका सब से बड़ा श्रेय प्रासादों की प्रतिष्ठा और निर्माणों में कुछ नई उद्भावनाएँ प्रारम्भ कर दीं। यह उद्भावना प्रासाद-विन्यास में सम्बन्ध रखता है। उत्तरापथीय प्रासादों विशेषकर निरन्धारों की ही विशेषता थी, परन्तु इनके युग में शिल्प-शास्त्र-दिशा में सान्धार प्रासादों का भी विकास प्रारम्भ हो गया। सान्धार का अर्थ है गर्भगृह के चारों

और प्रदक्षिणापथ का अनिवार्य निर्माण। दूसरी विशेषता इनके साम्राज्य मे पुराणो की पचायतन-परम्परा प्रारम्भ हो गई। जिस प्रकार दक्षिण मे शिव-पूजा, विष्णु-पूजा समान-भक्ति अभिनिवेश मे चलने लगी थी, उसी तरह यहा पर भी वह आस्था पल्लवित हो गयी। निरन्धार प्रासादो मे एक-मात्र पूज्य देवता की ही प्रतिष्ठा हो सकती थी, परन्तु सान्धार-प्रासादो के लिए विन्यासापेक्ष उत्तु ग एव विशाल तथा लम्बी चौडी जगती अथवा पीठ की आवश्यकता थी तो फिर चारो ओर परिवार-देवाश्रय तथा पचायतन-परम्परा के अनुरूप अन्य देवो एव देवियो के भी मन्दिर बनने लगे। इस दृष्टि से हरमन गोट्स की यह उद्भावना पूर्ण रूप से पोषित होती हैं :—

"This fully developed mediaeval temple cathedral stands on a vast platform (medhi) and consists of several buildings a flight of steps (nal), and open pillared hall enclosed by a balustrade (ardha or nal-mandapa), a closed cult-hall (gudha-mandapa) opening only into a few balconies, dark porch (antarala, mukhamandapa) and the shrine (prasada) surrounded by a circumambulatory passage (pradaksinapatha, bhrama) with three balconies of pillars standing on a balustrade (vedi) The open hall (natya mandapa, sabha-mandapa), reserved for the performance of the dancing girls (devadasis), and the ritual dining-hall that is occasionally found (bhoga-mandapa) are sometimes separate buildings To these have to be added, also as separate structures, subsidiary temples, triumphal arches (torana) and holy baths (kunda, especially fon the sun god) All these temple-rooms are raised on a high recending plinth (pitha) within very thick walls (Mandovara) and are surmounted by a huge sikhara and a pyramidal roof. The walls are broken up into system of pilastars (jangha) alternat-

ing with narrow recesses, which are constitued above the cornice (chhajja) as subsidiary sikharas (paga) flanking the central sikhara Horizontally these pilaster-walls are divided into the plinth (pitha) consisting of a series of friezes, of demonmasks (giras pati), animals (asvasthara and gajathara) and scenes from human life (narathara), all between various richly decorated angular or rounded mouldings (bandhana) On the leval of the shrine and cult halls, niches and brackets project from the walls, carrying the figures of the principal gods and of the Parivara devatas accompanied by innunerable heavenly nymphs (surasundari), eaves and pediments from the transition to the cornice (chajja), above which the sikharas and subsidiary sikharas rise like a huge mountain range to the copying stone (amalaka) And infact the whole building complex forms one integral unit, ascending from hill to mountain, and at last to the highest peak of the 'World Mountain' above the principal shrine In the interior, massive comlumns (stambha) support an octagonal entablature of brackets sculptured with divine dancing girls or cusped arches on which the low corbelled dome rests decorated with circle upon circle of floral bands and flying gods, or with radiating ribs of heavenly nymphs The pillars themselves are arcaded towers in miniature, in which gods and heavenly dancers posture The walls are covered with image-niches and images in consoles The shrine entrance follows the same schemes as in the late Gupta period but friezes and statues have multiplied' Prof. S Kramrisch has

more characterstically outlined these mediaeval temples of North India in her—"Hindu Temple"

अस्तु, इस उद्भावना के उपरान्त, अब यह भी संकेत करना है कि ज्योंही प्रतीहारों का साम्राज्य छिन्न हो गया तो नाना राज-वंश माण्डलिक नरेशों के रूप में उदय हो गये। जिस प्रकार योरप में मध्यकालीन इतिहास में एक बिल्डिंग-मेनिया प्रारम्भ हुई उसी प्रकार से इस महादेश में भी यही प्रासाद-मेनिया प्रादुर्भूत हो गई। भुवनेश्वर का लिंगराज, खजुराहो का कन्दरिया महादेव, उदयपुर का उदयेश्वर आदि आदि जगत्-विश्रुत प्रासाद आज भी अपनी आभा से प्राचीन वास्तु-कला की जगमगाहट से जगमगा रहे है। यह साम्राज्य लगभग १० राजवंशों में बिखर गया, जिनका उल्लेख यहां पर आवश्यक नहीं है। अब हम स्वतन्त्र राजवंशानुषङ्ग में ही यथा संकेतित उत्तरापथीय षड् प्रासाद मण्डलों का भ्रमण कर इस सागर को गागर में कवलित करने की चेष्टा करेंगे।



केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)

उत्तरी-शैली की कला-कृतियों में सर्वप्रथम संकीर्तन केशरी राजाओं का राज पीठ भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म-क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय 'लिंगराज' के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर, केशरी राजाओं की राजधानी, रहा है। केशरी राजाओं की, चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ११वीं शताब्दी तक उड़ीसा—मण्डल की मन्दिर-माला के अतिरिक्त २ मन्दिर और विशेष विख्यात हैं—कोनार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर। अतः पहले हम भुवनेश्वर को लेते हैं।

उड़ीसा-मण्डलीय प्रासादों की तालिका सर्वप्रथम हम कालानुरूप उपस्थित करते हैं तभी भुवनेश्वर को ले सकते हैं —

पूर्व मध्यकालीन ७५०-९०० ई०।

मन्दिरमाला	स्थान
परशुरामेश्वर	भुवनेश्वर
वैताल दुएल	,,
उत्तरेश्वर	,,
ईश्वरेश्वर	,,
शत्रु घ्नेश्वर	,,
भरतेश्वर	,,
लक्ष्मणेश्वर	,,

मध्यकालीन ९००-११०० ई०

मुक्तेश्वर	ई० ९७५	भुवनेश्वर
लिंगराज	,, १०००	,,
ब्रह्मेश्वर	,, १२७५	,,

शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक निर्मित होते रहे । अब भी भुवनेश्वर और उनके आस पास ५० मंदिर है जिनमें निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं —

१	मुक्तेश्वर	१४	सावित्री
२	केदारेश्वर	१५	लिंगराज आदिदेवा
३	सिद्धेश्वर	१५	सोमेश्वर
४	परशुरामेश्वर	१७	यमेश्वर
५	गौरी	१८	कोटितीर्थेश्वर
६	उत्तरेश्वर	१९	हट्केश्वर
७	भास्करेश्वर	२०	कपालमोचन
८	राजरानी	२१	रामेश्वर
९	नागेश्वर	२२	गोरक्षेश्वर
१०	ब्रह्मेश्वर	२३	नगिरेश्वर
११	मेघेश्वर	२४	कपिलेश्वर
१२	अनन्तवासुदेव	२५	वरुणेश्वर
१३	गोपालिनी	२६	चक्रेश्वर आदि आदि ।

अस्तु उड़ीसा मण्डलीय इन प्रमुख तीनों महामन्दिर पीठों—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी—के इस स्वल्प संकीर्तनापरान्त हम अन्त में इस शैली के सम्बन्ध में अवश्य निर्णय करेंगे ।

पुरी—जगन्नाथ—पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एवं कारक-यजमान पर भी ऐतिहासिकों में मतभेद है । श्री मनमोहन चक्रवर्ती (see his paper on the date of Jagannath Temple in Puri—J A S B, vol 67 for 1898 pt 1 pp 328 331) ने निम्नलिखित श्लोक —

प्रासा पुरुषोत्तमस्य नृपतिः को नाम कर्तुं क्षम—

स्तस्येत्याद्यनृपैरुपेक्षितमयं चक्रेऽथ गंगेश्वर ।। (गंगावंश ताम्रपत्र) के आधार पर इस प्रासाद को गंगेश्वर (चोडगंग) का बनवाया हुआ बताते हैं । यतः चोडगंग का राज्याभिषेक १०७८ ई० में हुआ था अतः इस मन्दिर की तिथि १०८५–१०९० मनमोहन ने माना है । इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार (God Purusottama at Puri—J O R, Madras

vol. 17. pp 209-215) ने उड़िया के प्रख्यात पुराण (Chronicle) मादला पाञ्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोड़गंग को न दे कर उसके परपोते (great grandson) अनङ्गभीम तृतीय को देते हैं। मित्र तथा हन्टर महाशय (Cf. 'Antiquities of Orissa' Vol. II pp 109—110 and Orissa Vol. I pp. 100—102) भी इसी मत को पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं :—

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके ।

प्रासाद कारयामासानङ्गभीमेन धीमता ॥

(Also see—'History of Orissa'—by Dr. R. D. Bannerjee) अस्तु इस ऐतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे का अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तियां तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं—सम्भवतः ईसवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है कि १८वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था।

इस मन्दिर की वास्तु-कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है। बौद्धों के त्रि-रत्न—बुद्ध धर्म और संघ की भांति इस मन्दिर में जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियां हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्म-सावित्री आदि का स्थापत्यायन अथवा चित्रांकन पुरुष और प्रकृति के रूप में हुआ है, तब यह भाई बहिन का योग बौद्धों के प्रभाव का स्मारक है—बौद्ध, धर्म को स्त्री-सम्पर्क मानते हैं। अस्तु, पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर के अतिरिक्त मुक्ति-मण्डप, विमला देवी का मंदिर, लक्ष्मी-मंदिर, धर्मराज (सूर्यनारायण) का मंदिर, पातालेश्वर, लोकनाथ मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि मंदिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

(ग) कोणार्क - सूर्य-मन्दिर-कोणार्क एक क्षेत्र है। इसे अर्क-क्षेत्र अथवा पद्म-क्षेत्र कहते हैं। निकट ही बंगाल की खाड़ी की उत्ताल तरंगों से उपकण्ठ-भूमि उद्वेलित रहती है और मन्दिर के उत्तर में आध मील पर चन्द्रभागा नदी बहती है।

कोणार्क-मन्दिर किसने बनवाया—असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवतः ९ वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एवं कलेवरता में विद्-

मान था क्योंकि आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है, जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध हो कर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नहीं ऐशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है । लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर में ढका हुआ पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रुपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था। तब लोगों को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला । इसकी वास्तु-कला एवं अन्य विभिन्न विवरण स्वल्प में ही प्रस्तुत हो सकेंगे।

इस अनुपम मन्दिर को हम एकमात्र वास्तवाकृति ही नहीं मानेंगे—यह शिल्प एवं चित्र दोनों की अनुपम आकृति निभालनीय है। पौराणिक आख्यान एवं लोक-विश्वास में भगवान् भास्कर सदैव रथ में विराजमान उदित एवं अस्त होते हैं। इन के रथ में सात घोड़े होते हैं, इनका सारथि अरुण है। इसी प्रतीकाख्यान का अनुवाद इस महावास्तु में परिणत कर दिया गया है। रथ-यान पर आरूढ यह मन्दिर है, अश्वों का चित्रण दर्शनीय है । रथ-यान गर्भ-गृह-सम्मुखीन निर्मित है ।

इस स्वल्प संकीर्तन के बाद पाठकों की जिज्ञासा का समाधान आवश्यक है। कोनार्क के सूर्य-मन्दिर के बाह्य कलेवर—मण्डोवर स्कन्ध, ग्रीवा, शिखर आदि पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तियों का क्या प्रयोजन था। गोट्ज महोदय ने इस पर यह समीक्षा की है कि मत सान्धार-प्रासादों एवं भौमिक विमानों में जब नाना विस्तार प्रसार विकसित हुए तो अनायास नाट्य, नृत्य आदि मण्डपों में देवदासियां, नर्तकियां मन्दिर-देवता के लिये समर्पित कर दी गयी थी, अतः इन्हीं नर्तकियों के अश्लील चित्रण एक मात्र अप्रबुद्ध स्थपति (apperentice artisian-masan-architect) के द्वारा यह असम्भवतः सम्पादित किया गया है। ऐसे चित्रण कन्दरीय महादेव (कन्दरिया महादव) खजुराहो, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मदुरा आदि प्रासाद-पीठों पर भी यह अश्लील चित्रण भी उट्टङ्कित किये गये हैं। अतः मेरी दृष्टि में यह प्रभाव तान्त्रिकों का ही है जो उत्तर-मध्य कालीन-युग में यह एक महाधारा बह निकली थी। इस ने बौद्धों को भी पूरी तरह से अभिभूत कर दिया था, ब्राह्मण तो अपने आप ही इसके महा अनुयायी थे।

तिब्बत के यावयूम चित्रणों [redacted] हम परिचित ही हैं। कामाख्या आसाम से भी परिचित ही है, अतः यह न केवल भारतीय वरन् बृहत्तर भारतीय प्रभाव है।

अस्तु, केशरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चौवालिस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८वीं श०) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि, भुवनेश्वर की प्राचीन गरिमा एवं भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिये इसे ही उपयुक्त समझा।

अस्तु, इन साधारण विवरणों के उपरान्त अब हम प्रासाद-कला की विशेष तानों पर आ रहे हैं। शिखरोत्तम प्रासाद का प्रारम्भ हम आयहोल में पहले ही कर चुके हैं। शिखरों के विन्यास विकास और प्रोल्लास का पूर्ण अवसान इस मंडल में निभालनीय है। मंजरी-शिखर भुवनेश्वर की सर्वप्रमुख विशेषता है। मूलमंजरी, उरोमञ्जरी तथा नाना रथों और रथिकाओं की विच्छित्ति और वैभव तथा अलंकृति पराकाष्ठा प्राप्त कर चुकी है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन में शिखरों की नाना श्रेणियों का वर्णन किया है—मंजरी-शिखर, लता-शिखर, अंडक-शिखर आदि आदि। इसी प्रख्यात प्रासाद-पीठ से अंडक-शिखर की वर्तना प्रारम्भ हुई है। लिंगराज (एकाण्डक-शिखर) तथा खजुराहो के कन्दरीय महादेव में यह विकास पूर्ण प्राप्त होता है। भुवनेश्वर का राजरानी मन्दिर ही खजुराहो का अग्रज माना जाता है। आजकल के विद्वानों ने यह भी माना है कि उड़ीसा की अपनी नई शैली है जिसमें प्रासाद-विन्यास के ४ प्रमुख अंग हैं —

१—द्यूल अथवा शिव-मन्दिर अर्थात् गर्भ-गृह (विमान)
२—सभा मंडप अथवा जगमोहन
३ नृत्य-शाला अर्थात् नट-मन्दिर तथा
४—भोग मन्दिर।

लिंग-राज इन मन्दिर-विन्यासों का प्रतीक है। समरांगण सूत्रधार की परिभाषा में मेरी दृष्टि में भुवनेश्वर के मन्दिर विशेषकर लिंगराज को एकाण्डक शिखर में गतार्थ करना व्यापक समीक्षा नहीं है। यह तो मेरी दृष्टि में लताश्रृंग का अनुपम उदाहरण है। समरांगण-सूत्रधार में लतिन प्रासादों की

सज्ञा भी प्राप्त होती है और प्रसिद्ध लेखक डा० क्रैमरिश अपने हिन्दू टेम्पिल (दे० पृ० २१५ फुट नोट ६८) मे जो उद्भावना की है वह सर्वथा सगत है —

"The Orissan variety of the Rekha temple of the Nagara class would thus most perfectly be a Latina temple' see details in Hindu Temple, P 216'

इस दृष्टि से हमने जो आदि चालुक्यो की समीक्षा मे शिखरो के उदय मे उनकी देन की समीक्षा की है वह सर्वथा सार्थक है। शिखरोत्तम प्रासादो का आरोहण से जो प्रारम्भ होता हुआ भुवनेश्वर पर अपना आधिराज्य स्थापित कर मध्य भारत खजुराहो आदि प्रासादो के पीठों पर प्रत्यवसायित हुआ वह ठीक है—मेरे पुत्र डा० ललित कुमार शुक्ल ने भी जो अपनी Ph. D Thesis (A study of Hindu art and architecture with esp ref to Terminology) मे जो यह निम्न समीक्षा की है, वह भी बडी सार्थक एव प्राचन की समर्थक भी है—

"The Muktesvara temple is regarded to be the most beautiful of all Orissan temples but the most graceful and elegant example of this period is Rajarani temple whose affinity with the Sikharottamas of Khajuraho is a land mark in the contention that the Nagara style of temple architecture as illustrated in the temples of Bhuvanesvara and Khajuraho, have a common fountain and are a manifestation of one movement which had its begining from its southern extremity of Ganjam within the old Madras Presidency to its northern off-shoot ; in the state of Mayurbhanja having its ramifications in the territory of Chalukya, the last of which shows the political contact between the Ganga kings of Western India and the Ganga Dynasty of Kalinganara the modern Mukhalingam which brought this manifestation of an all India composite style of temple architecture"

— o —

चन्देलों का वास्तु-पीठ-खजुराहो—बुन्देल-खण्ड-मण्डल

खुजराहो इस समय एक छोटा सा गाव है, परन्तु किसी समय यह जभोति (यजुर्होति) प्रान्त की राजधानी थी। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था। सम्भवतः यजुर्होती इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। चन्देल-राज-वंशीय राजन्यो मे यशोवर्मन एवं उसके पुत्र धगदेव का विशेष गौरव है जिन्होने इस राजवश की नींव को सुदृढ़ बनाने मे कसर न रक्खी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवी शताब्दी मे चन्देल राज्य की नींव डाली थी। ८ वी मे लगाकर लगभग १६ वी शताब्दी तक चन्देलो का प्रभुत्व रहा। चन्देलो का मुख्य स्थान कालिञ्जर का दुर्ग था और निवास स्थान महोबा। खजुराहो को उन्होने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना था।

बुन्देलखण्ड-मण्डल का शिल्प कला का प्रतिनिधि ही नही सर्वस्व खजुराहो के मन्दिर हैं। इनमे कडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एव सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानतः दसवी शताब्दी मे राजा धगदेव ने बनवाया। कहा जाता है कि निनोरा ताल, खजुराहो गाव और निकटवर्ती शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्ततः प्राचीन समय मे ८५ मन्दिर थे। उनमे से अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान है।

चन्देलो की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होने अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायो के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बरती। वैष्णव-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म सभी के स्मारक-चिन्ह यहा पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहा पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहो के विद्यमान प्रासादो के अन्यतम निदर्शनो की पुष्प-मालिका के सौरभ का आनन्द पाठको के सम्मुख रखते है।

इस मण्डल के मुकुट-मणि खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो महोबा से ३४ मील दक्षिण और छतरपुर से २७ मील पूर्व है। इलौरा-मन्दिर-पीठ के समान खजुराहो भी सर्व-धर्म-सहिष्णुता का एक अन्यतम निदर्शन है। यहां पर वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म और जैन-धर्म आदि विभिन्न मतों के अनुयायियों ने पूरी स्वतन्त्रता से अपने मन्दिर निर्माण किये हैं। इससे यह विदित होता है कि चन्देल राजाओं ने, शैव होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय धार्मिक सहिष्णुता दिखाई। निनोरा ताल, खजुराहो गांव (जो पहले एक बड़ा नगर था) एवं निकट-स्थित शिव सागर झील के इतस्ततः फैले हुए प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे जिनमें अब भी २० ही शेष रह गये हैं। इनमें निम्न-लिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :—

१— चौंसठ योगिनियों का मन्दिर (६वी शताब्दी),

२. कंडरिया (कन्दरीय) महादेव—यह सर्वश्रेष्ठ है—विशालकाय, प्रोत्तुंग, मण्डपादि-युक्त, चित्रादि 'Sculptures)-विन्यास-मण्डित,

३ लक्ष्मण-मन्दिर—निर्माण-कला अत्यन्त सुन्दर,

४. मतंगेश्वर महादेव—इसमें बड़े ही चमकदार पत्थरों का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वी-मूर्ति, जो अब ध्वंसावशेष हैं,

६ हनुमान का मन्दिर,

६ जवारि-मंदिर में चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७ दूला-देव-मन्दिर—इस नाम की परम्परा है—एकदा एक बारात इस मंदिर के सामने से निकली तत्क्षण वर जी नीचे गिर कर परम धाम पहुंच गये तभी से इसका नाम दूला-देव मंदिर हो गया।

अस्तु इस स्थूल विवरणी के उपरान्त हमें थोड़ा सा इस प्रमुख-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठ के अतिरिक्त और भी अन्य-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठों पर कुछ संकेत भी आवश्यक—सुरवाया, ग्वालियर के दक्षिण में सुन्दर मन्दिर तथा बुन्देल-खण्ड, के चन्देल राजाओं की पर्वतीय राजधानियों महोबा तथा कालिञ्जर आदि में वैष्णव-मन्दिरों तथा हैहय कलचुरी मन्दिरों के भग्नावशेष बुन्देलखण्ड के दक्षिण और चन्द्रेहा, बिल्हारी, तिवारी (त्रिपुरी) और सोहागपुर में भी ये उल्लेखनीय हैं।

पूर्व सकेतित प्रतीहार-वंशीय राजाओं में ही चौहान-कला भी विकसित हुई। यह चौहान-कला प्रतीहार-शैली को पूर्ण आस्था से बनाये रखी। इस चौहान-कला में दसवीं शताब्दी का हर्षनाद-मन्दिर (शिखर), विलासपुर, वरौली, मेवाड़—ओसिया, किराडू के मन्दिर भी इसी चौहान-कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु अब हम राजस्थान और मध्यभारत की ओर आते हैं।

चाहमान अथवा चौहान नरेशों की कला का कुछ सकीर्तन हो ही चुका है। पूर्व सकेतित प्रतीहारवंशीय उत्तरवर्ती राजाओं एवं माण्डलिकों को भी हम नहीं भुला सकते। इनका प्रसार मध्य भारत में भी फैल गया था विशेष कर ग्वालियर में। ग्वालियर के सहस्रबाहु मन्दिर (सासबहू—अपभ्रंश) का श्रेय कच्छपघटों को है जो हम आगे—मध्य भारत तथा राजपूताना—के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे।

इसी प्रकार प्रतीहारीय उद्भवों में गहड़वालों को भी नहीं विस्मृत कर सकते। वाराणसी के निकट प्राचीन मन्दिर गहड़वालों की देन है। सारनाथ के बौद्ध-विहार भी इसी कोटि में आते हैं। गहड़वालों ने त्रिगर्त-शैली को भी प्रश्रय प्रदान किया जो कांगड़ा के स्मारकों में विभाव्य है। इस शैली को यथानाम काश्मीरी तथा चाहमानी इन दोनों कला का विश्रण विभाव्य है।



राजस्थान एवं मध्य-भारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत में दैवदुर्विपाक से शतशः मन्दिर मुसलमानों के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरों के नाश की कथा—मध्यकालीन मुस्लिम-सत्ता की कलंक-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अतः बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशेष हैं। पर्सी ब्राउन की समीक्षा कितनी सत्य है जो अवतारणीय हैं:—

"Some idea of the amount and quality of the temple architecture produced in these parts may be obtained from an examination of the remains built into these two famous Islamic monuments, the Qutb Mosque at Delhi and the Arhai din ki Jhompara at Ajmer, the earliest architectural efforts of the Afghan invaders. From inscriptional evidence it is known that twenty six temples were dismantled to provide materials for the Delhi mosque, the number of pillars in which amounts to 240. Each single Mosque pillar however is made up of two pillars of the temple type, one being placed above the other thus giving a total of 480 in all or an average of rather more than eighteen pillars from each temple But the Ajmer mosque is a much larger structural compilation, three of the tempel *examples are superimposed, so that* nearly a thousand pillars were used, representing the spoils of at least 50 temples' Indian ArchitectureP.—114

राजपूताने के कुछ भागो मे यवनो का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर मे दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला घाननडी मे महामन्दिर नाम से विख्यात है जिसमे अनेक शिखर है तथा जिसका मण्डप सहस्र स्तम्भ है। दूसरा एक शिखर-मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य मे भी दो बडे सुन्दर मन्दिर मिलते है। उदयगिर परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा मे सर्व-श्रेष्ठ है। 'एक-लिंग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी मे श्वेत संगमरमर का है। कहते है कि 'एक-लिंग' की स्थापना मेवाड के आदि पुरुष बाप्पा रावल के समय मे हुई थी और ईसवी १५ वी शताब्दी मे महाराणा कुम्भा ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना के पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमे (साम बहू) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवत ७ वी या ८ वी सदी मे हुई। फर्गुसन के मत मे यह ११ वी शताब्दी मे बना था।

मध्यप्रान्त के ग्वालियर का 'तेली' का मन्दिर भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरो मे कलचुरि-राजाओ ने जो मन्दिर बनवाये थे उन में चौसठ जोगिनियो का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के श्रेण्य मन्दिरो का वर्णन नहीं विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहा पर विभिन्न देवों के मन्दिरो की सख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें एक मन्दिर सूर्य का भी है। इस मन्दिर पीठ पर ब्राह्मणो एव जैनो दोनो के मन्दिर हैं। ब्राह्मणो में ही हर मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है।

राजपूताना के मन्दिरो की गाथा मे आबू पर्वत पर बने हुए जैन-मन्दिरो का सकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बडे ही सुन्दर हैं और संगमरमर पत्थर के बने हैं। करोडो रुपियो की लागत उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओ का कहा जाता है। इन मन्दिरो की कारीगरी दर्शनीय है।

इस मण्डलीय-प्रासाद-स्थापत्य की सर्व प्रमुख महिमा द्वार-शाखाओ की है—एक-शाख-द्वारो से लेकर नव-शाख-द्वारो का विकास दिखाई पडता है।

सोलंकी--राजवंश का प्रासाद--निर्माण--संरक्षण--गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिम

उत्तर-भारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति-समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य-कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एवं कच्छ-प्रदेश आधुनिक काठियावाड़ रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरों का ही निर्माण नहीं हुआ, वरन् प्रासाद-कला में एक नवीन शैली (लाट-शैली) का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ़ एवं समृद्ध सोलंकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड-पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलंकियों के राज्याश्रय में पनपी प्रासाद-कला १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलंकी राज-वंश के काल में प्रोत्थित प्रासाद पीठों में निम्नलिखित पीठ विशेष उदाहरणीय हैं —

कालानुक्रम	पीठ संज्ञा
१०वीं शताब्दी	सुनक, कनोद, डेलमल तथा केसर—गुजरात
११वीं शताब्दी	नवलखामन्दिर —घुमली तथा सेजाकपुर
	सूर्यमन्दिर—मोधारा
	विमलमन्दिर—*आबू पर्वत
	किराडूमन्दिर—मेवाड़
१२वीं शताब्दी	रुद्रमल—सिद्धपुर गु०
	सोमनाथ—काठियावाड़
१३वीं शताब्दी	तेजपाल—*आबू पर्वत

*टिप्पणी—इन पुष्पांकित मन्दिरों का पिछले स्तम्भ में हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं तथा सोलंकियों की गाथा के लिये यह पुनरावृत्ति अनिवार्य थी।

इस मण्डल के मन्दिरों में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है, वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नहीं। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है जो सिंध से आसाम तक और हिमाचल से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड़ की दक्षिण-समुद्र-वेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२-१०७२) ने ही प्राचीन मंदिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था। प्रातःस्मरणीय सरदार पटेल ने भी भारत की स्वाधीनता में पग उठाया था जो आधुनिक जीर्णोद्धार से अब भी भव्य है।

गुजरात और काठियावाड़ के मण्डलीय मन्दिरों की विरदावली के बखान में काठियावाड़ की दो पहाड़ियों—शत्रुञ्जय पर्वत तथा गिरनार-पर्वत हैं, जहां पर जैनियों ने एक नहीं अनेक मन्दिर बनवाये। यहां के ये स्थान मन्दिर-नगर Temple Cities के नाम से सङ्कीर्तित हैं। कहा जाता है कि इन मन्दिर-नगरों में रात में तीर्थ-यात्री टिकने नहीं पाता।

इन मन्दिरों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात् ११वीं से ले कर १३वीं शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चित ही है, परन्तु १३वीं शताब्दी में इस प्रदेश में एक अभिनव *मन्दिर-निर्माण-कला* को जन्म देने का श्रेय हेमदपन्त को है, जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। यह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषों में परिगणित करते हैं। वास्तव में यह देवगिरि राज-वंश के रामचन्द्र देव (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधानामात्य था। इसने सैकड़ों मन्दिर बनवाये और इन मन्दिरों का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली में हुआ।

हेमदपन्ती शैली के पूर्व-विनिर्दिष्ट मन्दिरों में थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश में बालसेन पर विराजमान त्रि-आयतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नहीं है। इसी प्रकार नासिक जिले में सिन्नार पर गोन्देश्वर, कोकड़ा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले में पेडगांव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध है। निजाम हैदराबाद के राज्य में नागनाथ का

मंदिर भी उल्लेख्य है । ये सभी मंदिर ११ वी से लेकर १३ वी शताब्दी के बीच मे बने और ये मंदिर वास्तव मे यथानिर्दिष्ट पञ्चम वर्ग (दक्षिण-खानदेश) के मण्डल-मण्डन है, जिनकी प्रस्तावना तत्रैव ही विशेष प्रासंगिक होगी ।

अस्तु, इस किञ्चित्कर स्वल्प समीक्षण के उपरान्त हमे इस मण्डल के महामहिम भास्वन्मरीचिमाला-दीपित मोधारा के सूर्य-मन्दिर पर थोडा सा संकेत और भी आवश्यक है ।

इस मण्डल की प्रासाद शैली की सर्वोपरि विशिष्टता मण्डोवर-विन्यास, स्तम्भ-बाहुल्य-विच्छित्ति, सभा-भवन-न्यास एवं शिखरालकृति-विच्छित्ति विशेष स्तोत्य हैं । अधिक विवरणो मे न जाकर पर्सी ब्राउन की यह समीक्षा हृदय को गद्गद् कर देती है :—

"In viewing the Modhera temple, the aesthetic sense at once responds to the elegance of its treatment and its proportions as a whole, the entire composition being lit with the living flame of inspiration. But apart from its material beauty, its designer has succeeded in communicating to it an atmosphere of spiritual grace. The temple faces the east so that the rising sun at the equinoxes filters its golden cadence through its opening, from door way to corridor, past columned vestibnles finally to fall on the image on its inner chamber In its passage the rays of the heavenly body to which the shrine is consecrated, quiver and shimmer on pillar and archway, giving life and movement to their groven forms, the whole structure appearing radiant and clothed in glory. To see this noble nonument with its clustered columns not only rising like an exhalation but mirrored on still waters below is to feel its creator was more than a great artist, but a weaver of dreams." Indian Architecture pp. 120.

दाक्षिणी उत्तर-शैली-मण्डल—खान-देश

अस्तु, अन्त में हम नागर-कला के दक्षिण प्रसार को नहीं भुला सकते हैं। यह दक्षिण-प्रदेश (Deccan) जिसको खानदेश के नाम से पुकारते हैं, वह एक प्रकार से दो प्रान्तों के बीच में प्रोल्लास प्राप्त कर रहा है—उत्तर में लाट-शैली का प्रभाव है, तथा दक्षिण में चालुक्यों का। तथापि ये मन्दिर प्रोल्लास स्वाधीन विलास के प्रतीक हैं। ये मन्दिर शिखरोत्तम प्रासादों की ही दीप्ति से ही दीपित हैं। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन में प्रासाद-मण्डोवर के ऊपर जिन तीन विधाओं का वर्णन किया है—

१—मञ्जरी-शिखर—खजुराहो।

२ गवाक्ष-शिखर—एकाण्डक शिखर—भुवनेश्वर—उड़ीसा

३—लता-मञ्जरी उर्फ मञ्जरी-शिखर—मध्यभारतीय मन्दिर जैसे नीलकण्ठेश्वर उदयपुर

अतएव ये खानदेशीय मन्दिर तृतीय श्रेणी ही के निदर्शन हैं। इन दक्षिण मन्दिरों (Deccanese temples) में यह आभा प्राप्त होती है। इन शिखरों की आकृति उरोमञ्जरी अथवा एक-शृङ्ग के समान नहीं है। लहगन की आकृति में ही विभाजित किये जा सकते हैं। लहगन और पदक में कोई अन्तर नहीं है। अतः ये भी पदक ही शिखर हैं। इन दक्षिण-प्रासादों में प्रसिद्ध निदर्शन अम्बरनाथ मन्दिर है। यह महाराष्ट्र के थाना जिला में स्थित है। इस शैली में खानदेश बालसेन स्थान पर नौ मन्दिरों की माला देखने के योग्य है। हेमदपन्थी शैली में निर्मित अनेक मन्दिरों का गुणगान हो ही चुका है, वे भी इस प्रदेश में बिखरे पड़े हैं।

अस्तु, इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हम कालानुगत खानदेशीय मन्दिरों की तालिका प्रस्तुत करते हैं—

काल		संज्ञा एवं	स्थल
११ वी शताब्दी	१	अम्बरनाथ	थाना जि०
,,	२	त्रि-आयतन-मन्दिर	बालसेन — खान देश
,,	३	महेश्वर ,,	— ,,
१२ वीं शता०	४	गोण्डेश्वर	सिन्नर — नासिक
	५	महादेव	भोगड — ,,
	६	लक्ष्मी-नारायण	पेडगाव — अहमदनगर
१३ वीं शता०	७	नाग-नाथ	औंध — आन्ध्र प्रदेश
		हेमद-पन्थ-शैली	
,,	८	दैत्य-सूदन विष्णु-मन्दिर	लोनार सतगाव } Deccanese

मकर

टि० १ इस मण्डल का मण्डन अम्बरनाथ मन्दिर है। इसकी अलकृति अब प्रासाद-स्थापत्य बड़ा ही ओजस्वी है।

टि० २ बालसेन-पीठ पर लगभग ८ मन्दिर आज भी विराजमान हैं।

टि० ३ यह पीठ समन्वय-धारा Syncrestic movement का भी एक प्रसिद्ध विकास है —पञ्चायतन-परम्परा ही यह समर्थित करती है।

— • —

मथुरा-वृन्दान—उतर-मध्य-कालीनअर्वाचीन प्रासाद

अब रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल—मथुरा-वृन्दावन, अपेक्षकृत अर्वाचीन है और राजाओं के अतिरिक्त सेठों, साहूकारों एवं साधारण भक्तजनों का भी संरक्षण इन मन्दिरों की रचना में कम नहीं है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडा-स्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अतिप्रशस्त प्रदेश था, परन्तु यहा के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास में मुसलमानों की संहारकारिणी, पैशाची प्रवृत्ति के निदर्शनों की कमी नहीं परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट् अकबर के औदार्य एवं अन्य-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के अतिनिकट वृन्दावन में उसी काल में पांच प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन पाच मन्दिरों के नाम से हम सभी परिचित हैं —

१—गोविन्द-देवी

२—राधा-वल्लभ

३—गोपी-नाथ

४—जुगुलकिशोर

५—मदनमोहन।

इन मन्दिरों के निर्माण में यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्रारम्भ एवं अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट् अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राजाश्रय के रूप में मूल्याकन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियों में औरंजेब की नृशंसता से हम सभी परिचित ही हैं जिसके समय में इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्द-देवी का ध्वंस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी प्राचीन गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरों के सम्बन्ध में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-

शैली में एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एवं खजुराहो के मंदिरों पर जो मूर्ति-विन्यास-प्राचुर्य देखा जाता है वह यहां पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरों के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इस नवीनता में मुसलिम सत्ता का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में यह नवीनता उत्तर-मध्यकालीन लाट-शैली की अतिरञ्जनात्मक-शैली की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है। पुनः जब धन एवं ऐश्वर्य शैथिल्य एवं दारिद्र्य की ओर अग्रसर होता गया तो शैली की अतिरञ्जना तथा घन-सकोच अपने आप भी शिथिलता को प्राप्त हो गया।

इस वास्तविक तथ्य के निर्देशोपरान्त हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि ये मन्दिर प्रासाद स्थापत्य की दृष्टि से हीन हैं। भारतीय वास्तु-शास्त्र में प्रासाद-निवेश में सर्वमूर्धन्य विच्छित्ति एवं प्रतीकत्व आमलक है—यह आमलक—'अमल-शिला' जितनी सुन्दरता से यहां निविष्ट की गई है, वह सर्वातिशायिनी कृति है।

पर्सी ब्राउन ने जो अपनी समीक्षा में (see Indian Architecture p. 130 last line) ".. but as a work of art this from of Sikhara has not much to commend it". उनकी यह समीक्षा मेरी दृष्टि में उनकी दृष्टि का विरोध (Contradiction) उपस्थित करती है —see ibid :

"But the most distinctive portions of several of these Brindaban temples are the sikharas which in style and shape are unique, as they bear little or no resemblance to any other kind of Indian temple spire. They rise from an octagonal plan and taper into a tall conical tower (see Madanmohan of 65 ft. hight) with a broad band of mouldings outlining each angle. At intervals throughout their height are similar bands of mouldings placed transversely, so that the surface effect is that of a senes of diminishing rectangular panels. Overhanging the whole at

the apex is a ponderous finial, or amalasila (Amalaka-*shukla*) a flat circular disc, its outer edge ornamented with a border of massive knob-like petals or flutes"

टि०—भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की दो प्रमुख धाराओं—दक्षिणी तथा उत्तरी—की अवान्तर -धाराओं चालुक्य, पल्लव, चोल, पाण्ड्य आदि (दक्षणी) तथा केसरी, चन्देल, प्रतीहार, राजपूत आदि (उत्तरी) के साथ साथ जो स्थूल समीक्षा हो चुकी है इस विशाल भारत के प्रासाद-स्थापत्य को दो प्रमुख शैलियों में बांटा गया है—नागर तथा द्राविड । इनके अतिरिक्त शिल्प-शास्त्र दिशा से हम अन्य तीन शैलियों को विस्मृत नही कर सकते हैं। इनमे वेसर, वावाट तथा भूमिज विशेष उल्लेखनीय हैं। हमने इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण की कोड में पहले ही कुछ प्रकाश डाल ही दिया है । अतएव वेसर, भूमिज वावाट, इन सभी तीन शैलियों को हम भौगोलिक रूप में गतार्थ नहीं कर सकते हैं । वेसर पर हमने पहले ही नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर ही दी है । इस शैली का प्रमुख प्राचीन निदर्शन दुर्गा-मन्दिर है ।

जहां तक वावाट शैली का प्रश्न है, इसके निदर्शन परवर्तीय चालुक्यों और होयसालों के मन्दिरों मे प्राप्त होते हैं। मैसूर के मंदिर वास्तव मे स्थपति (Architect) का कौशल ही नहीं हैं, वरन् तक्षक (Sculptor) का महान् योगदान है । इन मैसूर मन्दिरों के तक्षण में ऐसा मालूम पड़ता है कि स्थपति तक्षक ही नहीं, वह मानो चन्दन-काष्ठ पच्चीकार, वर्धकि है अथवा हस्ति दन्त कलाकार अथवा धातुकार है। सच पूछा जाये तो वह साक्षात् स्वर्णकार है। इस शैली मे निर्मित मन्दिरों की सूची प्रस्तुत की जाती है —

	स्थान	नाम
१	दोद्दा गोडवल्ली	लक्ष्मी-देवी
२	बेलूर (वेलपुर)	चैन्न केशव
३	नगमंगल	केशव (त्रि-आयतन)
४.	कोर-मंगल	बूचेश्वर (त्रि-आयतन)
५	अर्सीकेरी	ईश्वर (द्वि-आयतन)
६	हरिहर	हरिहर (द्वि-आयतन)
७	होस्रोहल्ली	केशव (त्रि-आयतन)

८. बुग्गी-हल्ली	लक्ष्मी-नरसिंह (त्रि-आयतन)
९. ' सोमनाथपुर	शुद्ध वेसर
१०. हलेबिड	होयसलेश्वर

अन्त में यह अन्तिम निदर्शन होयसलेश्वर चालुक्य-होयसाल-परम्परा का सर्वप्रमुख निदर्शन है। शिल्प-चित्र-वास्तु का चरमोत्कर्ष यह निदर्शन है। यह श्रेय चालुक्य-होयसाल-मण्डल को है जो मौलिमालाय-मण्डन है—"It is the supreme climax of Indian architecture in its most prodigal plastic menifestation".



पूर्व-पश्चिम-मण्डलीय प्रासाद

भूमिज-प्रासाद

पर्वताकृति-आयतन-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद—तीर्थ-स्थान, स्तूप, चैत्य, संघाराम आदि

बंगाल-बिहार-मण्डल

काश्मीर-मण्डल

नेपाल-मण्डल

ब्रह्म-देश (वर्मा)-मण्डल

सिंहल-द्वीपीय (लंका)-मण्डल

भूमिज—बंगाल-विहार-मण्डल

भूमिज की आधुनिक भारत-भारती में प्रथम व्याख्या जो मैंने दी है—उस के अनुसार यह बंगाल विहार-मन्दिरों से सम्बन्धित है। इस प्रदेश की जलवायु ने तथा मुसलिम आक्रमणों ने यहां के निदर्शनों को अल्पावशेष कर दिया। तथापि हम इस शैली में उत्थित मन्दिरों को तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं —

१—प्रथम—इस को हम दो शाखाओं में आलोचित कर सकते हैं—एक तो बृहत्तर बंग और दूसरा सीमित बंग। बृहत्तर बंग, उड़ीसा के सामान प्रसिद्ध है। सीमित बंग से तात्पर्य्य सद्देशीय जन स्थापत्य (local and popular) है, क्योंकि यहां के सामाजिक एवं धार्मिक विचारों के अनुरूप ही ये विकास अपने आप उदित हुए।

२—बौद्ध-विहार—हम जानते ही है कि महायान सम्प्रदाय के आविर्भाव में बंगाल विहार प्रधान पीठ था। अतएव यहां पर बौद्ध निदर्शन अपनी अभिख्या से आज भी प्रकाशित हैं।

३—पाल और सेन राजवंशों की छत्रछाया में यह पूर्वीय परम्परा (Eastern School of Art) ने बृहत्तर भारत, द्वीपान्तर भारत मध्य ऐशिया आदि के प्रधान जो मन्दिर आज भी विद्यमान हैं उनके निर्माण में इसी भारत के पूर्वीय स्थापत्य परम्परा को श्रेय है।

अन्त में हम इस शैली के एक दो निदर्शनों पर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं—पहली श्रेणी में सिद्धिम मन्दिर-पीठ है। दूसरी श्रेणी में निदर्शन राजशाही जिला में पहारपुर पर एक बौद्ध स्मारक विहार है जिसको धर्मपाल ने बनवाया था। तीसरी श्रेणी सेन राजाओं की राजधानी लखनौती प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय स्थापत्य में पाल-चित्रण (Pal Sculpture) वज्रयान बौद्ध-सम्प्रदाय का प्रोल्लास माना जाता है।

अस्तु, इन भूमिज प्रासादों की कोड में, सौभाग्य से इस मण्डल में कुछ

नगर (दीनाजपुर) का नो विमानो वाला मंदिर उल्लेख्य है और वह अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ईसवीयोत्तर अष्टम शतक से लेकर अष्टादश शतक तक मन्दिर बनते रहे। अर्वाचीनो मे बृन्दावनी-मन्दिरो के समान विष्णुपुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

अन्त मे इस स्तम्भ मे प्रासाद-स्थापत्यानुरूप इस शैली की भी कुछ प्रस्तावना आवश्यक है। यद्यपि उडीसा-मण्डल का भी प्रभाव यहा अनिवार्य था तथापि बगालो अपनी वैयक्ति प्रखरता को भी न दबा सके। इन मन्दिरो के शिखरो मे बैंगन-आकृति की भूषा विशेष दर्शनीय है। साथ ही साथ प्रासाद-निवेश मे मुख-मण्डप का न्यास विशेष उल्लेख्य है। शिखर विच्छित्तियो में 'पञ्चरत्न' 'नव-रत्न' की भूषा भी प्रख्यात है। इन मन्दिरो मे अन्तराल (ठाकुरबरी) गर्भ-गृह का प्रमुख विन्यास है। जोरबगला के मन्दिरो मे द्वि-आयतन—निवेश भी उल्लेख्य है। बाकुरा जिला मे उत्थित सिद्धेश्वर मन्दिर भी बड़ा प्रसिद्ध है। बिहार के मान-भूम जिला के भी मन्दिर विख्यात हैं। इन सभी मे यह विच्छित्ति दर्शनीय है। बर्दवान आदि अन्य पीठ भी आज ये निदर्शन प्रस्तुत करते है



काश्मीर-मण्डल

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर मण्डल भी प्रासाद वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहा के मन्दिरो की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य प्रदेश के अनुकूल ही है। काश्मीर के मन्दिरो म सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरो मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवी शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शकराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखते है। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवी शताब्दी) मे आते हैं। इनमे अवन्तिस्वामी का विष्णु-मन्दिर तथा अवन्तीश्वर शिव मन्दिर विशेष प्रख्यात है। इनके निर्माण मे काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियो का हाथ था। शकरवर्मन, जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ हुआ उसने भी बहुसख्यक मन्दिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मन्दिरो के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं।

इस काश्मीर-मण्डल मे नाग पूजा (Snake cult) भी पूरा आस्था से चल रही थी, अत इस परम्परा ने भी इस स्थापत्य म कुछ नवीनताये ला दी थी। इस अत्यन्त सक्षिप्त समालोचना के अनन्तर हम बौद्ध-मन्दिरो को नही भुलाना चाहिए। सर्वप्रथम प्रासाद-कृतियां बौद्ध है। जो चैत्य बने वे पूर्ण मन्दिराकृति मे ही बने। पुरातत्वीयान्वेषण (खुदाई) मे जो श्रीनगर-निकट हरवान तथा बरमूला के निकट जो भग्नावशेष प्राप्त हैं वे प्राचीनतम निदर्शन हैं।

यह भी ग्राह्य है कि इस पार्वतीय प्रदेश पर मध्य एशिया तथा उपत्यका-प्रदेश—गान्धार, तक्ष-शिला आदि मण्डलो का भी इस मण्डल पर पूरा प्रभाव पडा। इस मण्डल मे एक अभिनव शैली अपने आप उदित हो गयी। पर्सी ब्राउन का भी कथन सार्थक है कि इस कला पर पार्थियन, रोमन हेलेनिस्टिक विदेशी प्रभाव भी असन्दिग्ध है। पुन आगे चलकर परिहासपुर पर बौद्ध-प्रासाद उदित हुए जो बड़े भव्य है। इनके शिखरो एव मण्डोवरो की आभा विमानाकृति विशेषकर स्तूपाकृति (Pyramidal shape) निराली है। इस प्रासाद-कला की दूसरी विशेषता स्तम्भ विच्छित्ति है। आगे चलकर उत्तर भारत की धारा ने भी इस मण्डल को भी आक्रान्त कर दिया—घन एव पञ्चायतन, कीर्ति स्तम्भादि सब प्रोल्लसित हो गये।

नेपाल-मण्डल

काश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नपाल मण्डल के मंदिरो का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल मे तो घरो से अधिक मंदिर है। यहा बौद्धो एव ब्राह्मणो दोनो के मंदिर मिलते हैं। स्वयम्भू-नाथ का स्तूप, बुद्धनाथ बौद्ध-नाथ का मंदिर और चुगुनाथ का मंदिर विशेष प्रसिद्ध है। एक मसनाथ (वास्तव मे मन्मथनाथ) मंदिर भी सकीर्त्य है। इनमे प्रथम दो मंदिरो का प्राचीन गौरव इसी मे प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत मे हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध भिक्षुक क रूप म नेपाल की तीर्थ यात्रा की और उसकी स्मृति म अगणित स्तूपो का निर्माण कराया, उन्ही मे दो ये भी हैं।

मुल्ला राजाओ क राज्याश्रय से नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पडी। इस राज वश क सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिति तथा यक्ष (१४वी तथा १५वी शताब्दी) ने जिस राज निवेश-योजना को लेकर चले उसमे पूजा-वास्तु प्राप्त हुआ। पशुपति-नाथ का मंदिर नेपाल के मंदिरो मे बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह १७वी शताब्दी की कृति है परन्तु इसके प्रागण में अनेक मंदिरो का न्यास एव अनेक देवो की प्रतिष्ठा ने यह वास्तु-पीठ-कला और तीर्थ दोनो के रूप म विश्वविश्रुत हो गया।

अब आइये तिब्बत की ओर।

तिब्बत, सिक्किम तथा कागडा—

नपाल के अतिरिक्त हिमालय उपत्यकाओ म फैले हुए प्रदेशो मे तिब्बत और सिक्किम मे भी हिन्दू स्थापत्य के अनेक निदर्शन पाये जाते हैं। तिब्बत मे बौद्ध-विहारो का ही प्राधान्य है। इनम पोतल-नामक विहार, जिसको अरुण-प्रासाद, के नाम से पुकारा जाता है, विशेष प्रसिद्ध है। यही पर दलाई लामा का निवास है। सिक्किम का स्थापत्य तिब्बत से ही प्रभावित हुआ है। पेमाची-नामक मंदिर यहा का विशेष उल्लेखनीय है। कागडा के दो मंदिर वैजनाथ तथा सिद्धनाथ विशेष प्रख्यात हैं। इन मे विशेषकर सिद्धनाथ म सभा मंदिर एव शिखर-भूषा दोनो का उदाहरण मिलता है।



सिंघल-द्वीप तथा ब्रह्मदेश (बर्मा)

लंका—भारत के दक्षिण एवं उत्तर तथा नेपाल आदि हिमाचल-प्रदेशों के इस प्रासाद-वास्तु-वैभव की झांकी देखने के बाद दक्षिण में पुनः पदार्पण करें तो सिंहलद्वीप (लंका) का स्मरण अवश्य आ जाता है। अगाध समुद्र-जल राशि कभी व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाती। आधुनिक भारतीय-जीवन राम-चरित से अधिक प्रभावित है तो राम-चरित में रावण को कौन भूल सकता है? लंका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आजकल तो सिंहल-द्वीप में वास्तु-रचना की दृष्टि से वहां के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। अतः यह स्थान अति-प्राचीन समय से ही बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था। अतः वहां पर हिन्दू प्रासादों को कौन प्रश्रय देता? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिव-भक्त था तथापि मंदिरों के नाम से लंका-तिलक (जेतवनाराम) मंदिर (१८वीं शताब्दी) का तो संकीर्तन कर ही लेना चाहिए। इसमें बुद्ध भगवान् की जो मूर्ति खोदी गयी है वह लगभग ६० फीट की है। सिंघल-द्वीप-स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दाक्षिणात्य रचना का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। यहां के स्थापत्य में पार्वत वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण मात्रा में। जेतवनाराम (विहार) मंदिर के अतिरिक्त लंका में एक सप्तभौमिक-विमान भी है जिसकी संज्ञा सात महल प्रासाद है। पोलन्नरुवा के ध्वंसावशेषों में दन्त-मालिगाव के नाम से प्रख्यात वास्तु में शैव आयतन है जो लगभग १२वीं शताब्दी में बना था।

में छत्रावली भी विशेष उल्लेखनीय है। इन प्राचीन स्मारकों में निम्न तालिका विशेष प्रस्तोत्य है :—

रुवानवाइली	Ruwanwaeli	ई० पू० द्वितीय श०
थूपरामा	Thuparama	,, ,, तृतीय ,,
अभयगिरिया	Abhayagiriya	ई० उ० तृतीय ,,
जेतवनाराम	Jetawanarama	ई० ,, चतुर्थ ,,

लंका का लोहपासाद (लोह-प्रासाद) भी उल्लेख्य है जो मामल्लपुरम् की आकृति का अनुकरण करता है। अस्तु, इतनी ही कथा काफी है।

वर्मा—सिंहल-द्वीपीय कलाके इस किंचित्कर आलोचन के उपरान्त वर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी प्रासंगिक है। यहां का काष्ठ-स्थापत्य wooden-architecture) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो वर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास-धारायें हैं, परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मंदिर ही विशेष विख्यात हैं। इनमे पगान के मंदिर दर्शनी हैं। यह एक मंदिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्य-काल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का देश मण्डित है। माण्डले के इतस्तत बहु-संख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ। पगोडा एक प्रकार से स्तूप और मंदिर दोनों के लिए ही बोधक है। कहा जाता है वर्मा में आठ सौ से एक हजार तक मंदिर बने थे जिनको आजकल पगान के ध्वंसावशेष कहे जाते हैं। इन में आनन्द नाम का बड़ा ही अद्भुत मंदिर था उसकी भूमिकाओं एवं शिखरों को देखकर दक्षिण के विमान-प्रासाद की पूर्ण प्रतिमूर्ति प्रतीत होती थी। पगान के अन्य मंदिरों में महाबोधि-मंदिर भी विशेष उल्लेख्य है जो बोध-गया मंदिर के अनुकरण पर बना था

अस्तु, इस स्वल्प स्तवनोपरांत अब हमें कुछ विशेष वखान की आवश्यकता नहीं। यहां पर केवल तालिकानुरूप ही उपस्थापन अनुकूल था परन्तु इतना ही संकेत काफी है कि पगोडा ही वर्मा के प्रासाद हैं।

बृहत्तर-भारतीय-प्रासा

हिन्दू-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद

अ १ कम्बोज-मण्डल

२ श्याम-मण्डल

३. चम्पा मण्डल

४. जावा-वाली-सुमात्रा-मण्डल

५ रमण्य-देशीय-मण्डल

६ मलाया-मण्डल

ब- *मध्य एशिया—*

स विश्व-विक्रान्त—चीन, जापान तथा अमेरिका—

बृहत्तर भारतीय स्थापत्य

अ. द्वीपान्तर भारत .—

भारत-वर्ष के पूर्वदिग्भाग पर फैले हुए इस द्वीपान्तर-भारतीय-स्थापत्य विकास-प्रोल्लास-धाराओं की निम्न तालिका से बृहत्तर भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की कितनी महनीय कीर्ति आज भी दिग्दिगन्तव्यापिनी है वह पाठकों की समझ में आसकेगी :—

कम्बोडिया—कम्बोजदेश, लोअर कोचीन, चीन आदि

सियाम—श्याम-देश

अनम—चम्पादेश

जावा-बाली – सुमात्रा (बंका)

यवन-देश – रमण्य देश

टि०—इसकी राजधानी चूडामणी को आज्यमल राज श्याम के नाम से पुकारते हैं।

मलाया-प्रदेश—(टापू)

साथ ही साथ हम मध्य ऐशिया, सुदूर ऐशिया को भी नहीं भुला सकते जिसमें चीन, जापान आदि महादेशों में भी भारतीय स्थापत्य ने इन महादेशों को भी आक्रान्त कर लिया था। इससे बढ़कर और क्या विक्रम बताना जा सकता है ? यह कला मध्य-अमेरिका तक भी फैल चुकी थी जिसकी मय कला के निदर्शन अब भी पुरातत्वीयान्वेषणों से पूर्ण समर्थित हैं।

कम्बोज (कम्बोडिया)-मण्डल—इस द्वीपान्तर निवासी ख़मेर बड़े कुशल स्थपति थे जैसे जावा के। दोनों ने भारतीय धर्मानुरूप नाना वास्तु कृतियों के निर्माण में परम प्रसिद्ध हुए। ख़मेरों को फर्ग्युसन ने 'one of the greatest building races of the world'—जो कहा वह सर्वथा सत्य है।

इस द्वीपान्तर भारत में यह कम्बोज-शैली मध्य-काल में अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गयी। अगकोर वट को पर्सी ब्राउन ने—the largest and most impressive stone temple in existence—जो कहा है

सर्वथा सत्य है। अंगकोर संस्कृत शब्द 'नगर' का अपभ्रंश है। यह एक प्रकार का नगर मंदिर Grand Cathedral है। वट से अभिप्राय बौद्ध भवन से था। पहले यह भगवान् विष्णु के लिये बनवाया गया था, बाद में जयवर्मन (११८१ १२०१) ने इसे बौद्ध-मन्दिर में परिणत कर दिया। कम्बोडिया के अंगकोरवट नामक मंदिर की छटा दर्शनीय है, जो वहां के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ा रही है। यहां के बयोन-मंदिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वांछित है। यह सम्भवतः ब्रह्मा का मंदिर था, इसी प्रकार कम्बोडिया के बत्तेयस्री या वैनतेयश्री मंदिर का निर्माण ख्मेर-राजवंश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ। कम्बोडिया के अन्य मंदिरों में बेंग मेलेया तथा बापुन भी उल्लेख्य हैं।

श्याम-मण्डल—श्याम देश का रामायण में भी संकेत है। बौद्ध-परम्परा में अशोक और कनिष्क दोनों ने ही धर्म-दूतों को बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ श्याम देश भेजा था। श्याम में, ख्मेरों की सभ्यता (जो ईसवीय शता० से बहुत पुरानी थी उस) में जो स्थापत्य अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें ब्राह्मण धर्म का प्रभाव परिलक्षित है। आगे चलकर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से प्रभावित जिन कलाकृतियों का जन्म हुआ उनमें विहार और मण्डप दोनों प्रकार के वास्तु-संस्थान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। राम, सीता, विष्णु, गणेश की प्रतिमायें तथा रामायण और महाभारत के अनेक कथानक यहां के प्राचीन स्मारकों में चित्रित हैं। श्याम के महाधातु-मन्दिर में तथा अन्नम (फ्रेंच इण्डोचाइना) में जो मंदिर हैं उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपदर्शित हैं। भीम मंदिर, पुन्ट्रदेव मंदिर, प्रम्बनम, पनतरम, आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद अब हमें ऐतिहासिक दृष्टि से भी थोड़ी सी प्रस्तावना करनी है।

वैसे ना श्याम विभिन्न कालों एवं स्थापत्य-परम्पराओं के संगम को पूर्णरूप से चरितार्थ करता है। बहुत से विद्वान् लेखकों ने इस अन्तरीप-प्रदेश की नो कला-धाराओं का गुणगान किया है, परन्तु ऐतिहासिक निदर्शना

ये भोड में तीन ही काल विशेष उल्लेख्य हैं :—

द्वारावती-काल	(१०वीं शताब्दी तक)
खमेर-काल	(१२वीं से १३वीं शताब्दी तक)
ताई-काल (राष्ट्रीय युग)	(१३वीं से १७वीं ,, तक)

द्वारावती-स्थापत्य —इस काल में गुप्तो, पल्लवो एव चालुक्यो का भी प्रभाव पूर्ण प्रत्यक्ष है। इस काल में महातत-मदिर विशेष उल्लेख्य है।

खमेर-काल - यही कारा इस मन्वरोप का महान् प्रोल्लास है। इस काल में बट महाधातु विशेष कीर्त्य हैं। यह १२वी शताब्दी की निर्मित है। इसकी शिखर-विच्छत्तियो में नागर-प्रासादो की ग्रमल-शिला (ग्रामलक) भी पूर्ण प्रत्यक्ष है।

ताई-काल .—में लका-तिलक के सदृश एक मदिर बना जो भगवान् बुद्ध की प्रतिमा एव पूजा ग्रादि की प्रेरणा थी। ग्रस्तु इस स्वल्प सकीर्तन उपरान्त यह भी ग्रावश्यक है कि श्यामदेशीय स्थपति वास्तु विद्या क ही विशारद नही थे वे नागो, ग्रसुरो के समान बड़े कुशल तक्षक (Sculptor) भी थे।

चम्पा मण्डल— चम्पा का रामायण मे सकेत है। सुग्रीव ने सीता की खोज मे दूतो को यहा पर भेजा था। ग्ररवाती-परम्परा के ग्रनुसार चम्पा का पहला राजा बनारस के एक राजा का पुत्र था जो यहा ग्राकर रामवती (रामबाई ग्रथवा रामरी) पर रहता था। दूसरी परम्परा के ग्रनुसार चम्पा के भारतीय राजा चन्द्रवशी कौण्डिन्यो के नाम से प्रसिद्ध थे। चम्पा मे बहुत से मन्दिर पाये जाते है। इन मन्दिरो को कला विशारदो ने पाच वर्गों मे वर्गीकृत किया है। इन मन्दिरो के स्तम्भ विशेष दर्शनीय हैं। इन वर्गों मे मैसोन, डाग, पोनगर, फोहाई क्षेत्र-विशेष उल्लेख्य है। मैसोन के मन्दिरो मे शिव लिंग के ग्रतिरिक्त गणेश, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य इन्द्र तथा ग्रन्य देवो ग्रौर देवियो की मूर्तिया प्रतिष्ठित हैं। डाग-वर्ग-माला के मन्दिरो मे बौद्ध चैत्यो एव विहारो का ही प्राधान्य है। पो नगर के एक मन्दिर मे उमादेवी की एक सुन्दर प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है। इसी

प्रकार अन्य वर्गीय मन्दिरो की कथा है। डा० मजूमदार के मत मे चम्पा के मन्दिरो और दक्षिणी मामल्लपुरम् के रथ-विमानो मे बडा सादृश्य है। कजीवरम् और बादामी के मन्दिरो का भी कम सादृश्य नही है। चम्पा के मन्दिरो के शिखर मामल्लपुरम् के धर्मराज के रथ और अर्जुन-रथ के शिखरो के समान ही हैं।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षण के उपरन्त अब हमे यह भी स्वीकार करना है कि चम्पा के कारीगर पच्चीकारी तथा चित्रकारी मे भी बड़े दक्ष थे। पुन जैसा ऊपर सकेत है तदनुरुप यहा के मन्दिरो मे शिखर-विन्यास तथा स्तम्भ-न्यास एव मूर्ति-न्यास ये सब भारतीय स्थापत्य के प्रतीक हैं।

सुमात्रा-जावा-बाली-मण्डल—यह सुमात्रा स्वर्णद्वीप के नाम से रामायण मे पुकारा गया है। यहा पर पूजा-वास्तु के निदर्शन बहुत कम मिलते हैं। बाली भी मन्दिर-स्थापत्य मे विशेष महत्वपूर्ण नही है। यहा के मन्दिर अब ध्वसावशेष है।

जावा—का बोरोबुदर अर्थात् अनेक बुद्धो का आयतन विशेष प्रसिद्ध है। यह यथानाम बौद्ध-गृह है परन्तु जावा मे हिन्दू-मन्दिरो की भी कमी नही है, जिनमे प्रम्बन आदि विशेष उल्लेख्य हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली दुर्गा तथा गणेश की पूजा के लिये निर्मित हुए थे। पुरातत्वीय शिलालेखो के द्वारा जावा के ब्राह्मण-धर्म पर और ब्राह्मण-कला के विकास पर काफी प्रकाश पडता है।

अस्तु, इस मण्डल के स्वल्पोपोद्घात के उपरान्त हम एक तालिका प्रस्तुत करते हैं जो इस स्थापत्य की सञ्चिका बन जाती है। परन्तु इसके पूर्व हम यह भी सकेत करना आवश्यक है कि पूर्व-काल हिन्दू-मन्दिर-काल था तदनन्तर बौद्ध-श्रगार मे एक महा-मन्दिर बोरो बुदर बन गया जो जावा की कीर्ति दिग्दिगन्त-व्यापिनी बन गयी। तीसरा काल ह्रास-काल है। यह मण्डल वास्तव मे जावा के पश्चिम, पूर्व एवं मध्य से सम्बन्धित है।

पश्चिम जावा ६२५ ई० हिन्दू	मध्य-जावा (स्वर्णिम-युग) ६२५ से ६२८ ई० इन्डोजावानीज़ हिन्दू ६२५—७५०	बौद्ध ७५०—८६०	हिन्दू ८६० ९५०	पूर्व-जावा ९३८ से १४७८ ई० इन्डोनेसियन हिन्दू-बौद्ध ११वीं तथा १२वीं	१२५०—१२९२	१२९४— १४७८
तरुमा-राज्य	डिजेंग्प्लैटो	शैलेन्द्र सुमाना	'पुनरुद्धार' Restoration	कीर्तिस्तम्भ आदि स्नानागार	सिंगसरी किदल	सिम्पिंग, पपोह,
चौथी तथा पञ्चम शतक के शिला-लेख	भीम, अर्जुन, पुन्ता देव, श्रीकन्दी, वगेलन, पेकलोंगम तथा परिकेसित	कलसन, मेन्डुत, सारी, सेवा, सेयू पवान, प्लेयोसन तथा बोरोबुदर	आसु-मन्दिर परमनम्	ललातुण्डा बेलहन	जगो मंदिर	जोबिबंग पनतरम, सवेन्तर तिगवगई डिजेडाग सुकुह सुखाना

टि०—जहाँ तक मलाया तथा यवन-देश की बात है उस पर विशेष प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं। यवन-देश की राजधानी चूडानगरी को आजकल लाग-फवाग के नाम से पुकारते हैं। मलाया तो अतिनिकट द्वीपान्तर—अन्तरीप-प्रदेश है। अस्तु, अब हम मध्य एशिया तथा अमेरिका पर भी विहगावलोकन करें।

मध्य एशिया का भारतीय-स्थापत्यः—

मध्य एशिया के भारतीय-स्थापत्य मे खोटान विशेष उल्लेख्य है। यहा के स्मारको मे स्तूप, विहार, आयतन, मन्दिर, प्रासाद, मण्डप, दुर्ग सभी के निदर्शन प्राप्त होते हैं। इन मे रावक-स्तूप और विहार विशेष प्रसिद्ध हैं; जिस मे सौ बुद्धो की प्रतिमायें चित्रित हैं। खादलिक के आयतनो मे हिन्दू-मन्दिरो का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

स. विश्व-विक्रान्त-चीन-जापान-मध्य-अमेरिका-आदि पर भारतीय स्थापत्य निदर्शन —

भारतीय-स्थापत्य के भारतीय निदर्शनो एवं प्रसिद्ध स्मारको के साथ-साथ हिमाद्रि के अंचल मे फैले हुए नेपाल तथा तिब्बत के स्थापत्य पर दृष्टि डालते हुए द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना अनुपम स्मारको का गुणगान करते हुए हम मध्य एशिया तक पहुंच गये। परन्तु भारतीय स्थापत्य की गौरव-गाथा यही नही समाप्त होती। भारतेतर अन्य देशो एवं महादेशो जैसे चीन और जापान के अतिरिक्त यह कला दूसरे महाद्वीपों विशेषकर मध्य अमेरिका मे भी पहुंची। चीन देश मे जो मन्दिर पाये जाते हैं वे भारतीय कला से अत्यधिक अनुप्राणित हैं। यद्यपि ये ये सभी मन्दिर बौद्ध-पूजा-गृह हैं परन्तु उनका निवेश हिन्दू-मन्दिरो के समान है। यहा के पेकिन नगर का स्वर्ग-मन्दिर अथवा महासर्प (ग्रेट ड्रेगन) विशेष उपश्लोक्य है। जापान के बौद्ध-मन्दिरो मे चीन का प्रभाव स्पष्ट है। मध्य अमेरिका मैक्सिकन टेरीटरी मे जो युकतान मे मयासुर की वास्तु-कला मिली है उसको वहा के विशेषज्ञ विद्वानो ने भारतीय-कला ही माना है। वहा के ध्वंसावशेषो मे जावा के मन्दिरो के समान स्मारक प्राप्त हुए हैं। यदि वहा पर और खोज हो तो और बहुत से महत्व-पूर्ण अवशेष मिल सकेंगे ऐसी आशा है।

वास्तु-शिल्प-पदावली

प्रासाद-खण्ड

१ प्रासाद-काण्ड—नागर-शिल्प;

२ विमान-काण्ड—द्राविड-शिल्प;

३. पुरातत्वीय-काण्ड—स्मारक-निदर्शन ।

प्रासाद-काण्ड

१—प्रासाद का अर्थ एवं जन्म तथा विकास—उत्पत्ति एवं प्रसूति ;

२—प्रासादाङ्ग ;

३—प्रासाद-जातियाँ ;

४—प्रासाद-वर्ग

५—प्रासाद-शैलियाँ ;

६—प्रासाद-भूषा ;

७—प्रासाद-मण्डप ;

८—प्रासाद-जगती ;

९—प्रासाद-प्रतिमा लिङ्ग ।

प्रासाद का अर्थ :—प्रासाद शब्द नैरुक्तिक—प्रकर्षेण सादनम् है; अतः यह शब्द 'सादन' वैदिक चिति (चैत्य) से अनुषंग रखता हैं। इसीलिए यह प्रासाद अर्थात् देव-भवन वैदिक देवी की आधार-शिला पर अपना उद्भव प्राप्त कर सका। इसी लिए इस की संज्ञा प्रासाद बनी।

वास्तु-शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो के साथ साथ महाभारत, रामायण तथा पुराणों आदि मे जो देव भवनो के लिए पद प्रयुक्त हुए हैं, वे भी प्रसाद के जन्म, विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। निम्न तालिका तथा समरांगण का निम्न प्रवचन इस तथ्य के समर्थक हैं—

देव-गृह तालिका :

देवगृह	देवकुल	कीर्तन
देवागार	देवतागार	हर्म्य
देवतायतन	मन्दिर	विहार
देवालय	भवन	चैत्य
	स्थान	क्षेत्र
	वेश्म	

स०सू०प्रवचन-तालिका

"देवधिष्ण्यसुरस्थानं चैत्यमर्चागृहं च तत्
देवतायतनं प्राहुर्विबुधागारमित्यपि"

अब तीसरी तालिका देखिए तो भवन जन्म-विकास तथा चर्मोत्थान साक्षात् दिखाई पड़ेगा। तीनो प्रसिद्ध शिल्प-ग्रन्थो (मयमत, मानसार, समरांगण) की भवन-तालिका अब उद्धृत की जाती है ...

मयमत (१६.१०-१२)	मानसार १६ १०८-१२०)	समरांगण (१८ ८-६)
१. आलय	आलय	नीड
२. निलय	निलय	शरण
३. वास	सभालय	आलय
४. आस्पद	आवास	निलय
५. क्षेत्र	क्षय	लयन
६. पद	धाम	ओक
७ लय	वास	सदय

		प्रतिश्रय
८. क्षय	आगार	
९. उद्वसित	सदन	निधान
		संस्थान
		निवेश
१०. स्थान	वसित	
		आवास
११. पद	सद्म	सदन
१२. आवासक	गोष्ठ	सद्म
१३ निवेसन	गृह	
	स्थान	
		क्षय
१४ धाम	गेह	
	वेश्म	
	भवन	वसति
		आगार
१५. सदन	हर्म्य	वेश्म
१६ सद्म	क्षेत्र	
	आयतन	
	आधिष्ण्यक	
		गेह
१७ गेह	मन्दिर	
		गृह
		भवन
१८ आगार	प्रासाद	धिष्ण्य
१९ गृह	विमान	मन्दिर
२० भवन	मन्दिर	
२१ वास्तु		
२२ वास्तुक		
२३ हर्म्य		
२४ सौध		
२५ मन्दिर		
२६ धिष्ण्यक		
२७ विमान		
२८ प्रासाद		

इन तालिकाओं से प्रासाद का नैरुक्तिक अर्थ तथा प्रासाद-स्थापत्य का विकास समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। कला, सभ्यता एवं संस्कृति की सहचरी है। एक युग था जब लोग जैसे पक्षी वृक्षों के नीडों में आश्रय लेते

थे, उसी प्रकार प्राचीन मानव वृक्षो के नीचे और गुफाओं मे रहते थे। इसीलिए नीड और निलय इन शब्दो का प्रयोग किया गया है। हम ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (देखिए वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग हिन्दू साइन्स आफ आर की टेक्चर) में लिखा है कि ये पद यथा 'नीड' 'निलय' 'सौध', 'मन्दिर' विमान' सूचित करते है कि भवनो का विकास छोटी सी कुटियो से प्रारम्भ होकर गगन-चुम्बी प्रासादो एव विमानों मे प्रस्यवसित हुआ।

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद के जन्म और विकास (Origin and Development) मे जो आधुनिक विद्वानो ने मत दिये हैं बडे ही भ्रान्त हैं। कोई हिन्दू प्रासाद के जन्म मे स्तूप Theory लेता है कोई छत्र Umbrella Theory लेता है कोई Mound Theory लेता है, परन्तु हम ने इसे Organic Theory माना है और इस सम्बन्ध मे जो प्रामाण्य है उस को हम ने अपने प्रासाद-खण्ड के अध्ययन मे प्रस्तुत किया है वहीं द्रष्टव्य है।

प्रासाद की उत्पत्ति एव प्रसृति —

हम स्तम्भ मे उत्पत्ति से अर्थ प्रासाद-स्थापत्य से है। प्रश्न यह है कि प्रासाद स्थापत्य की दो प्रमुख शैलिया है एक उत्तरापथीय (नागर), दूसरी दक्षिणापथीय (द्राविड)। द्राविड शिल्प ग्रन्थो मे देव भवन के लिए विशेषकर विमान शब्द का प्रयोग किया गया है। समरागण तथा अपराजित पृच्छा जैसे नागर ग्रन्थो मे मन्दिर के लिए प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अब सब से महत्वपूर्ण समीक्षा यह है कि द्राविडी अग्रजा है कि नागरी ? विमान अग्रज है कि प्रासाद ? निम्नलिखित समरागण प्रवचन विशेष अवधारणीय है जिस से यह स्पष्ट है कि विमान अग्रज है और प्रासाद अनुज है—यह अन्वीक्षा शिल्प दिशा से समर्थ्य है —

विमानमथ वक्ष्याम प्रासाद शम्भुवल्लभम्।
स्वर्गपातालमर्त्यानां त्रयाणामपि भूषणम्॥
सर्वेषां गृहवास्तूनां प्रासादानां च सर्वत।
प्रासादो मूलमूनतोऽस्य तथाच परिकर्मणाम्॥ स० सू० ५५ १-२
पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्च विमानानासुर द्विषाम्।
वियद्गर्मविचारीणि व्योमन्नि च महन्ति च॥
तानि वैराजकैलासे पुष्पक मणिकाभिधम्।
हैमानि मणिचित्राणि पञ्चम च त्रिविष्टपम्॥

आत्मनः शूलहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिनः ।
सुरेशिने च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम् ॥
बहून्यन्यानि चैवं स सूर्यादीनामकल्पयत् ।
विशेषाय यथोक्तैस्तान्याकारैः प्रतिदैवतम् ॥
प्रासादांश्च तदाकारान् शिलापक्वेष्टकादिभिः ।
नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पतत् ॥
वैराजं चतुरश्रं स्याद् वृत्तं कैलाससंज्ञितम् ।
चतुरश्रायताकारं विमानं पुष्पकं भवेत् ॥
वृत्तायतं च मणिकमष्टाश्रि स्यात् त्रिविष्टपम् ।
तद्भेदान् श्रीमतोऽन्यांश्च विविधानसृजत् प्रभुः ॥ ४८ २-८

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रासादान् शिखरान्वितान् ।
रुचकादींश्चतुष्षष्टिं नामलक्षणतः क्रमात् ।
पूर्वं यानि विमानानि यथोक्तान्यभवन्नवः ।
तदाकारभृतः सर्वे प्रासादाः पञ्चविंशतिः ॥ ५६ १-२

प्रासाद-जातियां— इस प्रकार निम्नलिखित पंच विमानों से निम्नोद्धृत प्रासाद-जातियां उत्पन्न हुईं —

(अ) विमान-पञ्चक :—

	संज्ञा	आकार	देव
१	वैराज	चतुरश्र	ब्रह्मा
२	कैलास	वृत्त	शिव
३	पुष्पक	चतुरश्रायत	कुबेर
४	मणिक	वृत्तायत	वरुण
५	त्रिविष्टप	अष्टाश्रि	विष्णु

(ब) विमानोत्पन्न-प्रसाद-जातियां

वैराजभेद-चतुर्विंशति चतुरश्र प्रासाद :—

१	रुचक	९	नन्द्यावर्त	१७	प्रमदा-प्रिय
२	चित्रकूट	१०	अवतंस	१८.	व्यामिश्र
३.	सिंह-पञ्जर	११.	स्वस्तिक	१९	हस्तिजातीय

४	भद्र	१२	क्षितिभूषण	२०	कुबेर
५	श्रीकट	१३	भूजय	२१	वसुधाधार
६	उष्णाष	१४	विजय	२२	सर्वभद्र
७	शालाख्य	१५	नन्दी	२३	विमान
८	गजयूथप	१६	श्रीतरु	२४	मुक्तकोण

कैलाश भेद—दश वृत्त-प्रासाद—

१	वलय	६	चतुर्मुख
२	दुन्दुभि	७	माण्डूक्य
३	प्रान्त	८	कूर्म
४	पद्म	९	ताली-गृह
५	कान्त	१०	उलूपिक

पुष्पक प्रभेद-दश-चतुरस्रायत प्रासाद —

१	भव	५	शिबिरागृह	९	ग्रमल
२	विशाल	६	मुखशाल	१०	विभु
३	साम्मुख्य	७	द्विशाल		
४	प्रभव	८	गृहराज		

मणिक प्रभेद दश वृत्तायत प्रासाद —

१	आमोद	५	भूति	९	सुप्रभ
२	रैतिक	६	निषेवक	१०	लोचनोत्सव
३	तुंग	७	सदानिषेध		
४	चारु				

त्रिविष्टप प्रभेद दश अष्टाश्रि प्रासाद —

१	वज्रक	५	वामन	९	श्रोत
२	नन्दन	६	लय	१०	चन्द्रोदय
३	शंकु	७	महापद्म		
४	मेखल	८	हंस		

प्रसादांग—

प्रसादांगो को हम निम्न तालिका मे प्रमुख अंगों एवं उपांगों तथा निवेशांगो से विभाजित कर सकते हैं—

प्रासाद के प्रधान अंग—

पुरुषांग-प्रतीक-शरीरांग

पीठ—पाद आदि

जंघा—कटि आदि

मण्डोवर—वक्ष स्थल स्कन्धादि

शिखर—शिर-मस्तक-मूर्धादि

निवेशांग—

१. पीठ जगती

२—अन्तराल

३—अर्धमण्डप

४—महामण्डप

५—गर्भ-गृह

टि०—प्रासादांग पुरुषांग के समान विभाज्य हैं। हमने विमान को और प्रासाद को विराट्-पुरुष के रूप मे विभावित किया है, जो हमने अपने अध्ययन मे अग्निपुराण, हयशीर्ष-पञ्चरात्र, शिल्परत्न आदि के जो उद्धरण दिए हैं, उनके अनुसार प्रासादांगों की निम्न तालिका देखिए जो पुरुषांगों पर आधारित हैं:—

१. पादुका	६ पर्व	१७ मूर्धा
२. पद	१०. गल	१८, मस्तक
३. चरण	११. ग्रीवा	१९ मुख
४. आंघ्रि	१२. कन्धर	२०. वक्त्र
५. जंघा	१३. कंठ	२१. कूट
६. ऊरू	१४. शिखर	२२ कर्ण
७. कटि	१५. शिरस्	२३. नासिका
८. कुक्षि	१६. शीर्ष	२४. शिखा

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद-स्थापत्य का मौलिक आधार क्या है? जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा, ईश्वर और जीव निराकार एवं साकार अन्योन्याश्रयी हैं अथवा एक हैं उसी प्रकार ब्रह्म (विराट् पुरुष) तथा प्रासाद-देवता एक ही है। प्रासाद का आकार इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक उन्मेष से यह प्रोल्लास दिखाई पड़ता है। नागर प्रासादो के सर्वोच्च शिखर पर कलश एवं आमलक ये जो दो प्रतीक हैं वे ब्रह्म-रन्ध्र तथा निराकार ब्रह्म के प्रतीक हैं। महाविशाल पीठ से यह प्रासाद आमलक अर्थात् 'बिन्दु' में प्रत्यवसयित होता है यही रहस्य है।

टि०—प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया नाना-विधा है। यह प्रक्रिया मुख्यतया द्विविधा है—द्राविडी तथा नागरी। द्राविड प्रासादो (विमानो) मे सभा, शाला, गोपुर, रग-मण्डप, परिवार भी प्रासाद—गर्भ गृह अर्थात् प्रासाद (Proper—Sanctum Sanctorium) के अतिरिक्त विशेष निवेश्य है। विमानो के ये यथोक्त अग अनिवार्य हैं, अतएव मयमत मे यही तथ्य पूर्ण रूप से पुष्ट होता है —

'सभा, शाला, प्रपा, पङ्क्तमण्ड, मन्दिर — रमय०'

जहा तक नागर-प्रासादो की विधा है उसमें प्रासाद ही मुख्य सन्निवेश्य है। परन्तु इस परम पावन स्थान मे प्रवेशार्थ, अन्तराल, अर्ध-मण्डप एव महामण्डप भी भुवनेश्वर, खजुराहो आदि नागर-प्रासाद पीठो पर यह निवेश प्रत्यक्ष हैं।

इन दो वास्तु-शैलियो के अतिरिक्त प्रासाद-निवेश बहुत कुछ देवानुरूप विहित होता है। भगवान् शिव के मन्दिर, जिस किसी भी उत्तरापथ के प्रदेश मे जाएं, वहा, जगती तथा प्रासादो के अतिरिक्त एकमात्र अन्तराल, अर्ध-मण्डप अथवा महामण्डप के अतिरिक्त अन्य कोई निवेशाग नहीं दिखाई पड़ते। अब मुडिए दक्षिणापथ की ओर, वहा वैष्णव मन्दिरो को देखिए जो भौमिक विमान हैं। भगवान् विष्णु के लिए आगमो म स्थानक, आसन एव शयन तीन मुद्रा-रूप-कोटिया बताई गयी हैं, अतएव स्थानक पहली भूमि मे, आसन दूसरी भूमि मे तथा शयन तीसरी भूमि मे प्रकल्प्य हैं। अत भगवान् विष्णु राजत्व, आधिराज्यत्व एव भोग-विलास-ऐश्वर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ऐसे वैष्णव मन्दिरों के लिए रग-मडप, परिवार-देवालय, राज-

प्रासादोपम महाद्वार, महागोपुर, महाप्राकार, महाशालाएं एवं अन्य नाना सभायें भी आवश्यक है। दक्षिण के रामेश्वरम्, चिदम्बरम, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम्, श्री रंगम (रंगनाथ) आदि प्रख्यात मन्दिर इसी प्रोल्लास के निदर्शन हैं।

प्रासाद जातियां

टि०—जाति का अर्थ शैली ही है, जो देवानुरूप एवं स्थापत्यानुरूप दोनों दृष्टियों से विभाजित कर सकते हैं। समराङ्गण-सूत्रधार ही एक-मात्र वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ है, जहां पर निम्न जातियां एवं उनके प्रासाद वर्णित हैं। प्रासाद जाति प्रासाद वर्ग तथा प्रासाद-शैलियां एक प्रकार से एक ही शीर्षक में विचारणीय हैं, तथापि इनको हम निम्न तालिकाओं से स्फुट करेंगे—

प्रासाद जातियां

	द्राविड
नागर	भूमिज
लाट-लतिन	वावाट-वैराट

प्रसाद वर्ग

टि०—उपर्युक्त जातियों के अनुरूप प्रासाद-वर्गों की निम्न-तालिकाएं *उद्धृत की जाती हैं। यहां पर यह भी सूच्य है वैराज सभी प्रासाद-जातियों* में भगवान ब्रह्मा के द्वारा प्रकल्पित यह वैराज-प्रासाद-जाति सर्व-प्रमुख एवं आदि जाति है, अत: उसके निम्न भेद प्रभेद इस प्रथम तालिका में दिए जाते हैं—

वैराज-जाति-प्रभव-प्रासाद—प्रथमतालिका—

१	स्वस्तिक	५	हिरण्यीक	९	कुम्भक
२	गृहच्छन्द	६	सिद्धार्थक	१०	विमान
३	चतुश्शाल	७	द्विशाल	११	वीर
४.	त्रिशाल	८	एकशाल	१२	चतुर्मुख

टि०—ये द्वादश प्रासाद चार चार करके देवानुरूप अर्थात् गणों देवों तथा स्कन्द के लिए विनिवेश्य हैं।

दूसरी तालिका —

१,	स्वस्तिक	५	विजय	९	नन्द्यावर्त
२	श्रीतरु	६	भद्र	१०	विमान
३	क्षितिभूषण	७	श्रीकूट	११	सर्वतोभद्र
४	भूजय	८	उष्णीष	१२	विमुक्तकोण

टि०— यह दूसरी तालिका जनक जन्य भावानुरूप प्रस्तुत की जाती है जनक स्वस्तिक-आदि विमुक्तकोणान्त तथा जन्य निम्नोद्धृत रुचकादि धराधरान्त—

रुचक	प्रवतस	व्यामिश्र
सिंह-पंजर	नन्दी	हस्तिजातिक
शाला	चित्रकूट	कुबेर
गजयूथप	प्रमदाप्रिय	धराधर

तीसरी तालिका —

वैराजसम्भव— अष्ट-शिखरोत्तम प्रासाद —ब्रह्मजाति वाला —

१.	रुचक	५	सर्वतोभद्र
२	वर्धमान	६	मुक्त-कोणक
३	प्रवतस	७	मेरु
४	भद्र	८	मन्दर

पृच्छा में यह वर्गीकरण विशेष पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं स्थापत्यानुषंगिक नहीं है। स० सू० ही एक मात्र वास्तु-ग्रन्थ है जो शास्त्र और कला दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। ११वीं शताब्दी तक बंगाल-विहार-आसाम में भूमिज शैली भी निखर चुकी थी। नागर शैली और द्राविड शैली ये तो बहुत पुरानी हैं, जो गुप्त, आन्ध्र, गुप्त, वाकाटक कालों में विकसित हो चुकी थीं। एक महान् शैली का जन्म मध्य-काल की देन है, जिसका नाम लाट शैली है और लाट का अर्थ गुजरात है। गुजरात उस समय बड़ा ही समृद्ध एवं व्यावसायिक प्रदेश था। यह प्रदेश द्वीपान्तर भारत से भी वाणिज्य से बहुत सम्पर्क रखता था। धन की कमी न थी, अतएव इस संरक्षण में एक बड़ी अलंकृत शैली का जन्म हो गया है। गुर्जर प्रदेश (मोधारा) का सूर्य-मंदिर देखें, उसके सभा मंडप के स्तम्भों की अलंकृतियों को देखें शिखरों की सुषमा निहारें तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थपति ने तक्षक का रूप धारण कर लिया जिसको हम यह वास्तु-कला, तक्षण-कला (Sculptor's Art) के रूप में उन्मिषित कर सकते हैं। उत्तरापथ में ६वीं और १२वीं शताब्दी के बीच में जो इन अलंकृतियों का जन्म हुआ वही उत्तर मध्यकाल में दक्षिण भारत में विशेषकर मैसूर के मन्दिरों में यही छटा देखने को मिलती है (देखिये ... तथा हलेविड)। अस्तु अब इस उपोद्घात के बाद यह भी यहां पर हम बताना चाहते हैं कि इस समरांगण-सूत्रधार में इन शैलियों के क्रमिक विकास के अनुरूप हम तालिकाएं प्रस्तुत करेंगे जो एक-मात्र तालिका (Tables) ही नहीं वरन् विकास एवं प्रोल्लास के भी प्रतीक हैं। अत: यह अधिकृत ग्रन्थ लाट-शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, अतः हम पहले लाट शैली को लेंगे।

लाट-प्रासाद—

(अ) प्राक्कालिक-रुचक आदि ६४ प्रासाद-वैशिष्ट्य पुरस्सर—

क श्रेणी—

२५ ललित अर्थात् लाट—

१. रुचक	२ भद्रक	३ हंस	४ हंसोद्भव
५ प्रतिहंस	६ नन्द	७ नन्द्यावर्त	८ धराधर
९ वर्धमान	१० अद्रिकूट	११ श्रीवत्स	१२ त्रिकूटक

१३.	मुक्त-कोण	१४	गज	१५.	गरुड	१६.	सिंह
१७.	भव	१८.	विभव	१९	पद्म	२०.	मालाधर
२१.	वज्रक	२२	स्वस्तिक	२३	शंकु	२४	मलय
२५.	मकरध्वज ।						

९ मिश्रक —

२६	सुभद्र	२७	मौलिट (?)	२८	सर्वतोभद्र
२९	सिंह-केसरी	३०	चित्रकूट	३०.	धराधर
३२	तिलक	३३	स्वस्तिक	३४,	सर्वांगसुन्दर

३० सान्धार—

३५	केसरी	३६.	सर्वतोभद्र	३७	नदन	३८.	नदिशालक
३९	नदीश	४०	मंदिर	४१.	श्रीवृक्ष	४२.	अमृतोद्भव
४३	हिमवान्	४४	हिमकूट	४५.	कैलास	४६.	पृथ्वीजय
४७	इन्द्रनील	४८	महानील	४९	भूधर	५०	रत्नकूटक
५१	वैडूर्य	५२	पद्मराग	५३	वज्रक	५४.	मुकुटोत्कट
५५	ऐरावत	५६	राजहंस	५७	गरुड	५८,	वृषभ
५९	प्रासाद राज—मेरु	६०	लता	६१.	त्रिपुष्कर	६२.	पंचवक्त्र
६३.	चतुर्मुख	६४	नवात्मक ।				

टि०—ललित प्रासादों में प्रथम १८ भेद चतुरस्राकार (चौकोर) मेय हैं, भव तथा विभव चतुरस्रायताकार, पद्म तथा मालाधर ये दोनों गोल (वृत्त) तथा वज्रक, स्वस्तिक एवं शंकु ये तीनों अष्टकोण विनिर्मेय हैं।

(ग) तृतीय श्रेणी —

टि०—यत १०वीं शताब्दी के बाद पूर्त-धर्म पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था, अतः देवानुरूप-प्रासादों का निर्माण भी स्थापत्य को प्रभावित कर गया। और यह ठीक भी था जैसा देव, वैसे उसके लांछन, परिवार एवं कार्य इसी प्रकार उसके प्रासाद का छंद (Prospect and Aspect of the Building) तदनुकूल होना ही चाहिए। अतः यह, लाट-प्रासाद की तृतीय श्रेणी निम्न तालिका में उद्धृत की जाती है, जो आठ देवों के आठ आठ

प्रासाद हैं :—

१—शिव-प्रासाद	विष्णु-प्रासाद	ब्रह्मा के प्रासाद
१. विमान	१ गरुड	१ मेरु
२ सर्वतोभद्र	२ वर्धमान	२ मन्दर
३ गज-पृष्ठज	३ शंखावर्त	३. कैलास
४ पद्मक	४ पुष्पक	४ हंस
५ वृषभ	५ गृहराज	५. भद्र
६ मुक्तकोण	६ स्वस्तिक	६. उत्तुंग
७ नलिन	७ रुचक	७ मिश्रक
८ द्राविड	८ पुण्ड्रवर्धन	८ मालाधर

सौर-प्रासाद	चण्डिका-प्रासाद	विनायक-प्रासाद
गवय	नन्द्यावर्त	गुहाधर
चित्रकूट	वलभ्य	शालाक
किरण	सुपर्ण	वेणुभद्र
सर्वसुन्दर	सिंह	कुञ्जर
श्रीवत्स	विचित्र	हर्ष
पद्मनाभ	योगपीठ	विजय
वैराज	घटानाद	उदकुम्भ
वृत्त	पताकी	मोदक

लक्ष्मी-प्रासाद	सर्वदेव-साधारण-प्रासाद
महापद्म	वृत्त
हर्म्य	वृत्तायत
उज्जयन्त	चैत्य
गन्धमादन	किंकिणीक
शतशृंग	लयन
अनवद्यक	पट्टिश
सुविभ्रान्त	विभव
मनोहारी	तारागण

टि०—क. श्रेणी—छाद्य-प्रासादों, सभा-प्रासादों (दे० आयहोल, वादामी आदि प्रासाद-पीठ) तथा ख. श्रेणी गुहा-प्रासादों (दे० एलोरा, अजन्ता आदि) के प्रतिबिम्बक तो है ही, साथ ही साथ द्वितीय श्रेणी शिखरोत्तम तथा तृतीय श्रेणी भौमिक विमानों में भी परिकल्प्य हैं।

ब-प्रागुत्तर-लाट-शैली

मेरु आदि षोडश प्रासाद—

क—श्रेणी—

मेरु	नन्दन	वर्धमान
कैलाश	स्वस्तिक	गरुड
सर्वतोभद्र	मुक्तकोण	गज
श्रीवृक्ष	रुचक	सिंह
विमानच्छन्द	हंस,	पद्मक तथा वलभी

ख—श्रेणी— मेरु आदि विंशति-प्रासाद

मेरु	सर्वतोभद्र	रुचक
मन्दर	विमान	वर्धमान
कैलाश	नन्दन	गरुड
त्रिविष्टप	स्वस्तिक	गज
पृथ्वीजय	मुक्तकोण	सिंह
क्षितिभूषण	श्रीवत्स	पद्मक
	हंस	नन्दिवर्धन

ग—श्रेणी—

श्रीधरादि चत्वारिंशत्-प्रासाद—शुद्धाः जो देवानुरूप वर्ग्य है—

१-भगवती दुर्गा के प्रिय प्रासाद—

श्रीधर	हेमकूट
सुभद्र	रिपुकेसरी
पुष्पक	विजयभद्र
श्रीनिवास	सुदर्शन
कुसुमशेखर	

शिव के प्रिय प्रासाद—

सुरसुन्दर	नन्द्यावर्त

पूर्ण	ग्राम-वर्धन
सिद्धार्थ	त्रैलोक्य भूषण

ब्रह्मा के प्रिय-प्रासाद —

पद्म
विशाल
हंसध्वज
पक्षवाहु
कमलोद्भव

विष्णु के प्रिय प्रासाद—

लक्ष्मीधर	महावज्र	रतिदेह
सिद्धकाम	पञ्चचामर	नन्दिघोष
अनुकीर्ण		
सुभद्र	मुरानन्द	हर्षण
दुर्धर	त्रिकूट	नवशेखर
दुर्जय		
पुण्डरीक	सुनाभ	महेन्द्र
गिरि-शेखर	वराट	सुमुख

घ—श्रेणी नन्दन आदि दश मिश्रक-प्रासाद—

नन्द	बृहच्छाल सुधाधर	सम्वर
महाघोष	वसुन्धर	शुक निभ
वृद्धि-राम	मुस्तक	सर्वाङ्ग सुन्दर

टि०—लाट प्रासाद-वर्गों की ये तालिकायें—जो हमने नाना श्रेणियों में विभाजित की हैं, वे एक प्रकार से बिलकुल नवीन उद्भावना है। विद्वानों ने स्थापत्य-निबंधनीय जो मन्दिर पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य काल में बने हैं, उनको नागर शैली में ही गतार्थ किया है। 'नागर' पद का अर्थ वास्तव में लोगों ने ठीक तरह से नहीं समझा। राज संरक्षण में विशेषकर राजधानियों तथा महान् नगरों में, जो प्रासाद निर्मेय एवं निर्मित होते थे वे ही नागर-प्रासाद कहे जाते थे। प्रत्युत अरण्यों, जलाशयों, जनपदों आदि में जो नाना स्थापत्य-निदर्शन जैसे अजन्ता, ऐलोरा, खजुराहो आदि प्रदेशों में पाये जाते हैं वे मेरी दृष्टि में लाट शैली में गतार्थ किए जा सकते हैं, जिसकी हमने ऊपर तीन श्रेणियां प्रदान की हैं और पुराणों तथा अन्य साहित्य-सन्दर्भों से भी इस की पुष्टि प्राप्त होती है। यह लाट शैली सभी निवेशों का

प्रतिनिधित्व करती है जैसे छाद्य-प्रासाद, सभा मण्डप नयन, गुहाधर, गुह-राज (Cave temples), शिखरोत्तम तथा भौमिक सभी का प्रतिनिधित्व करता है। अब आइये नागर प्रासादो की ओर।

नागर-प्रासाद—

इस शैली के दो ही वर्ग इस ग्रन्थ मे प्राप्त होते है, एक परम्परा गत और दूसरे नवीन उद्भावना के अनुरूप। प्रथम श्रेणी के बीस नागर प्रासाद प्राय सभी स्रोतों मे एक समान हैं—पुराण, आगम तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थ। अब हम इन नागर प्रासादो को निम्न दो तालिकाओ मे वर्गीकृत करते हैं —

पारम्परिका-विंशिका

मेरु	विमानच्छन्द	नन्दन
मन्दर	चतुरस्र	नन्दि-वर्धन
कैलास	अष्टास्र	हंस
कुम्भ	षोडशास्र	वृष
मृगराज	वर्तुल	गरुड
गज	सर्वतोभद्रक	पद्मक
	सिंहास्य	समुद्र

श्रीकूटादि ३६ नागर-प्रासाद—

श्रीकूट-षटक	अन्तरिक्ष-षटक	सौभाग्य षटक
श्रीकूट	अन्तरिक्ष	सौभाग्य
श्रीमुख	पुष्पाभास	विमलक
श्रीधर	विशालक	विभव
वरद	सकीर्ण	बीभत्स
प्रिय-दर्शन	महानन्द	श्रीतुंग
कुलानन्द	नन्द्यावर्त	मानतुंग

सर्वतोभद्र-षटक	चित्रकूट-षटक	उज्जयन्त षटक
सर्वतोभद्र	चित्रकूट	उज्जयन्त
बाहूयोदर	विमल	मेरु
निर्यूहोदर	दर्पण	मन्दर
भद्रकोष	भद्रसकीर्ण	कैलास

समोदर	भद्रविशालक	कुम्भ
नन्दिभद्र	भद्रविष्कम्भ	गृहराज

मेरी दृष्टि में ये प्रासाद यद्यपि नागरी शैली में निर्मेय एवं निर्मित हुए हैं, तथापि इन को हम क्षुद्र प्रासादो Minor Temples मे विभाजित कर सकते हैं, जो जन-पदो, ग्रामो, अरण्यो, आश्रमो, तीर्थों, सिरता कूलो के लिए विशेष उपयोगी थे।

इस महाविशाल उत्तरापथ की इन दोनो शैलियो—लाट एवं नागर शैलियो के प्रासादो के उपरान्त हम पहले दक्षिण की ओर मुड़ते है, पुन बंगाल, विहार तथा आसाम मे जाएगे।

द्राविड प्रासाद—

टि० द्राविड प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेषता विमान वास्तु Storeyed Structure है। अतः इन प्रासादो को हम भौमिक विमानो में देखते हैं—शास्त्र तथा कला दोनो मे। मानसार मयमत आदि सभी दक्षिणात्य ग्रन्थो मे यह विमान-वास्तु भूमि पुरस्सर वर्णित किया गया है। उसी पद्धति से समरांगण-सूत्रधार मे भी इनको द्वादश भूमियो के अनुरूप द्वादश वर्ग मे विभाजित किया गया है। पुन विमान प्रासादो के पीठ भी नागर प्रासादो के पीठ अर्थात् जगती से कुछ वैलक्षण्य रखते हैं। अतएव हम द्राविड प्रासादो के पीठो की तालिका पहले प्रस्तुत करते हैं पुन उनके वर्ग। पीठ एवं तलच्छन्द दोनो ही जगती के माध्यम हैं। अत इन दोनो की तालिका उपस्थित की जाती है।

द्राविड पीठ पंचक	द्राविड—तलच्छन्द-पंचक
पाद-बन्ध	पद्म-तलच्छन्द
श्रीबन्ध	महापद्म-तलच्छन्द
वेदी-बन्ध	वर्धमान च्छन्द
प्रतिक्रम	स्वस्तिक-च्छन्द
खुर-बन्ध	सर्वतोभद्र

द्राविड प्रासाद—

एक भूमिक	सप्त भूमिक
द्विभूमिक	अष्ट भूमिक
त्रि भूमिक	नव भूमिक
चतुर्भूमिक	दशभूमिक

पच-भूमिक	एकादश-भूमिक
षड्-भूमिक	द्वादश-भूमिक

टि० जहां तक इनकी सज्ञाओं, विधाओं एव अ-विधाओं का प्रश्न है वह स० सू० के अध्ययन से सम्बन्ध नही रखता। अत. यह विवरण यहां पर प्रस्तोत्य नही है अब हम वावाट (वैराट) तथा भूमिज (अर्थात् बगाल, विहार आसाम) प्रासादो की तालिका उपस्थित करते हैं।

वावाट

क—श्रेणी दिग्भद्रादि १२—		ख—श्रेणी वृक्षजातीय कुमुदादि ७
१	दिग्भद्र	कुमुद
२	श्रीवत्स	कमल
३	वर्धमान	कमलोद्भव
४	नन्द्यावर्त	किरण
५	नन्दि-वर्धन	शतशृंग
		निरवद्य
६	विमान	सर्वांग-सुन्दर
७	पद्म	(ग) श्रेणी अष्टशाल-स्वस्तिक-आदि—५
८	महापद्म	स्वस्तिक]
९	श्रीवर्धमान	वज्रस्वस्तिक
१०	महापद्म	हर्म्यतल
११	पद्मशाल	उदयाचल
१२	पृथिवी-जय	गधमादन

टि०—इन भूमिज प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनकी शैली नागर शैली से ही प्रभावित हुई थी। नागर क्रिया मे ही इन की भूषा विहित है। अतएव इन प्रासादो की शिखर-वर्तना म निम्नलिखित रेखाओ पर सकेत किया गया है, जिनकी निम्न तालिका मात्र प्रस्तुत की जाती है। साथ ही उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढीकरणार्थ स० सू० का प्रवचन भी अवतरणीय है—

उदयस्य विभेदेन रेखा या पचविंशति ।
ललितानागरशोभाना ता कथ्यन्ते यथागमम् ॥

नागर-क्रिया-रेखा-पचविंशति

शोभना	लोका	वसुन्धरा

भद्रा	करवीरा	हंसी
सुरूपा	कुमुदा	विशाखा
सुमनोरमा	पद्मिनी	नन्दिनी
शुभा	कनका	जया
शान्ता	विकटा	विजया
कावेरी	देवरम्या	सुमुखा
सरस्वती	रमणी	प्रियानना

——?

इस समरागणीय प्रासाद-वर्ग की तालिकाओं के उपरान्त अब हमें यहां यथा-सकेत शैलियों की छानबीन उचित नहीं वह अध्ययन-खण्ड में परिशीलनीय है, अत. अब हम प्रासाद-भूषा पर आते है। प्रासाद-भूषा एव प्रासादाग एक प्रकार से अगागिभाव हैं। अतः इस विश्लेषण-योजना से अब एतद्विषयिणी तालिकाएं निम्न प्रमुख अगानुयगिका तालिका प्रस्तुत की जाती है —

१. वास्तु-क्षेत्र Site Plan
२. तल-च्छन्द Internal as well External Arrangement of the Ground Plan
३ ऊर्ध्वच्छन्द Arrangement of Parts in Elevation
४ पीठ Basement
५ द्वार-विधा, मान एवं भूषा
[illegible] प्रासाद-उदय
[illegible] मण्डोवर-(मण्डप+उपरि)
[illegible] शिखर Spire
९ कलश Finial
१०. रेखा Profile
११. प्रासाद-भूषायें Ornamentative motifs
१२. पत्र तथा कण्टक Mouldings

वास्तु-क्षेत्र —

टि० यह विषय हम अपने भवन-विवेश में ले चुके हैं, वह वहीं पठनीय हैं।

तलच्छन्द—प्रासाद-प्रसृति के सम्बन्ध मे जिस मौलिक विमान-पचक का ऊपर संकेत है वह आकारानुरूप—चतुरश्र, चतुरश्रायत, वृत्त, वृत्तायत एव अष्टाश्रि जो प्रतिपादन किया गया है तदनुरूप यह बाह्य-तलच्छन्द है। साथ ही साथ आन्तर-तलच्छन्द भी उपदर्शनीय है।

आन्तर तलच्छन्द

गर्भगृह-भ्रमणी-अन्धकारिका—Circum-ambulatory passage and walls of the Sanctum Sanotorium

बाह्य तलच्छन्द—

टि० बाह्य तलच्छन्द के नाना भग है जिन की सख्या दो दर्जनो से भी अधिक है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उन्हे दो प्रधान भगो मे विभाजित किया किया जा सकता है —

१. रचनात्मक २. मानात्मक

इन मे प्रमुख भंग हैं—

भद्र	कर्ण	नन्दी	तिलक
मुखभद्र	प्रतिकर्ण	वारिमार्ग	स्कन्ध
प्रतिभद्र	रथ	कोणिका	ग्रीवा
उपभद्र	प्रतिरथ	नन्दिका	गल आदि आदि
	उपरथ		

ऊर्ध्वच्छन्द—

टि० ऊर्ध्वच्छन्द से तात्पर्य है Structural Disposition वह छन्द-षट्क मे विभाजित है—जैसा भवन वैसा रूप। मेरु, खण्ड-मेरु, आदि इन छहो छन्दों पर हम अपने भवन निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं वह वहीं द्रष्टव्य है।

पीठ—पीठ के सम्बन्ध मे हम विमान-वास्तु में विशेष चर्चा करेंगे।

द्वार—

एक-शाख-द्वार

त्रिशाख-द्वार

पच-शाख-द्वार

टि०—शाखा का अर्थ (Door-Frame) से है। ये ही शाख-द्वार शास्त्र एवं कला मे विशेष सम्मत हैं।

सप्त-शाख-द्वार

नव-शाख-द्वार।

अपराजित-पृच्छा मे एक से लगाकर नौ तक शाखाओ का वर्णन है जिनकी संज्ञाये यहा प्रस्तुत की जाती हैं :—

पद्मिनी	नव-शाख	गान्धारी	चतु शाख
मुकुली	अष्ट-शाख	सुभगा	त्रिशाख
हस्तिनी	सप्त-शाख	सुप्रभा	द्विशाख
नन्दिनी	पञ्च-शाख	स्मरा (?)	एक-शाख
मालिनी	षट्शाख		

टि०—अन्य शिल्प-ग्रन्थों जैसे वास्तु-राज-वल्लभ, प्रासाद-मण्डन आदि मे इन शाखाओ पर बड़ा प्रचुर विजृम्भण है। द्वार-मान पर हम अपने भवन-निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं, जहाँ तक भूषा का सम्बन्ध है उस पर थोड़ा सा यहा संकेत आवश्यक है।

द्वार-भूषा—

प्रासाद-स्थापत्य मे द्वार-भूषा मध्यकालीन एव उत्तर-मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की एक नवीन अलकृति-शैली के रूप मे हम इसे विभाजित कर सकते हैं। जैन-मंदिरो मे तथा लाट-शैली मे निर्मित प्रासादो जैसे आबू तथा मोधारा (गुजरात) आदि मे द्वार-भूषा बड़ी ही आकर्षक एव अलकृति प्रधान है। द्वार-कपाट पर पच्चीकारी से नाना रूप-प्रतिमायें—ललाट बिम्ब, देवता-प्रतिबिम्ब नाना लतायें—फलानी आदि सब इन शाखाओ पर चित्रित हैं। अतएव इन चित्रणो के लिये एक-शाखद्वार से नव शाखास-द्वार की कल्पना एव रचना-विच्छित्ति या हुई हैं।

प्रासाद उदय तथा शिखर—

प्रासाद का उदय तथा उसकी शिखर-वर्तना रेखिर कला विशेषकर रेखा-गणित की प्रक्रिया से Geometrical Progression and Regression से सम्पाद्य है, अतएव नागर-वास्तु-विद्या की सबमे बड़ी देन रेखा तथा Setting of the Curves है।

यहा पर विशेष समीक्षण असम्भव है। हमारे सुपुत्र डा० ललितकुमार शुक्ल ने इस सम्बध में बड़ी छानबीन तथा अध्यवसाय एव तत्परता से

एतद्विषयिणी पदानुरूप Terminological अध्ययन के द्वार (दे० A Study of Hindu Art and Architecture with ref. to Terminology) जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, उसको विश्व-ख्याति डा० क्रैमरिश एवं प्रो० के० वी० कार्डरिंगटन (जिन्होंने इस पी-एच० डी० थीसिस को जाचा था) इन दोनो ने बडी प्रशसा की है—वह इस प्रकाशित प्रबध मे ही विशेष परिशीलनीय है। ग्रस्तु, हम यहा इन प्रासादोदय एव शिखर-वर्तना के निम्न प्रधान ग्रगो एव उपन्यासो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

रेखा		
कला	स्कध	शृग
खण्ड	वलण	ग्रण्डक
चार	घण्ट	उर श्रृग (उरोमञ्जरी)
	शिखर	गजपृष्ठ

टि०—इन रेखाग्रो मे नाना भेद हैं जैसे—

त्रिखण्डा	नवखण्डा	त्रयोदशखण्डा
चतुष्खण्डा	दशखण्डा	चतुर्दशखण्डा
पचखण्डा	एकादशखण्डा	पचदशखण्डा
षट्खण्डा	द्वादशखण्डा	षोडशखण्डा
सप्तखण्डा		सप्तदशखण्डा
ग्रष्टखण्डा		ग्रष्टादशखण्डा

टि०—इन सभी की ग्रपनी ग्रपनी सज्ञायें हैं जो स० सू० मे पठनीय है। मानसार ने भी इनकी सज्ञानुरूप तालिकायें दी हैं। ग्रत यह ग्रध्ययन स० सू० से सम्बधित है ग्रत उनकी यहाँ ग्रवतारणा विशेष सगत नही। इन रेखाग्रो की तालिकानुरूप सख्या २६५ है जो रेखाग्रो के चारानुरूप (1, $1\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$, $1\frac{3}{4}$, २, पुन $4\frac{3}{4}$ तक १६ भेद हो जाते है) ही ये सब गणनायें गतार्थ हैं।

ग्रध्ययन खण्ड मे प्रासाद निवेश की भूमिका मे शिखरो की विधा—लता-श्रृग, ग्रद्ध शिखर ग्रादि पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। पुन स्कन्ध-कोष, वेणुकोष ग्रीवा कलश, मातुलुग ग्रादि के साथ साथ ग्रामलक ग्रादि पर भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। ग्रत ग्रब इस स्तम्भ को यही पर समाप्त कर देना उचित है क्योकि मडोवर का ग्रर्थ—माडपोपरि है तथा मडप वास्तु का प्रमुख ग्रग वितान एव तुमायें है जो मडप-खड मे विवेच्य होगा। प्रासाद

भूषणों से तात्पर्य प्रासार-प्रतिमा-स्थापत्य है जो हम प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-वाड मे थोडा बहुत प्रस्तुत करेंगे।

प्रासाद—एक मात्र भवन नही, वह दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो का साक्षात् मूर्तिमान रूप है। यक्ष-विद्याधर किन्नर गन्धर्व-गण एवं अप्सराएँ तथा मुनि-ऋषि-भक्त-गण आदि आदि के साथ शार्दूल, दमित मिथुन—ये सब चित्रण पूरे जीवन, पूरे दर्शन, पूरे धर्म एवं पूरी प्रकृति एवं विकृति दोनो की प्रतीकात्मकता को व्यक्त करते हैं।

प्रासाद मण्डप—

	मण्डप	द्विविध
१	संवृत	
२	विवृत	

स० सू० मे दो वर्ग हैं —अष्ट विध तथा सप्तविंशति-विध।

अष्ट (८) मण्डप—

१	भद्र	५	स्वस्तिक
२	नन्दन	६	सर्वतोभद्र
३	महेन्द्र	७	महापद्म
४	वर्धमान	८	गृहराज

सप्तविंशति (२७) मण्डप—

१	पुष्पक	१०	विजय	१९	मानव
२	पुष्पभद्र	११	वस्तुकीर्ण	२०	मानभद्रक
३	सुव्रत	१२	श्रुतिजय	२१	सुग्रीव
४	अमृतनन्दन	१३	यज्ञभद्र	२२	हर्ष
५	कौशल्य	१४	विशाल	२३	कर्णिकार
६	बुद्धि संकीर्ण	१५	सुश्लिष्ट	२४	पदाधिप
७	गजभद्र	१६	शत्रुमर्दन	२५	सिंह
८	जयावह	१७	भागपञ्च	२६	श्यामभद्र
९	श्रीवत्स	१८	दम	२७	सुभद्र।

पंचविंशति (२५) मण्डप वितान—

१ कोल	९ भ्रमरावली	१८. मंदार
२ नयनोत्सव	१० हंसपक्ष	१९. कुमुद
३. कोलाविल	११ कराल	२०. मद्य
४ हस्तितालु	१२. विकट	२१. विकास
५ अष्टपत्र	१३ शखकुट्टिम	२२ गण्डप्रभ
६ शरावक	१४ शखनाभि	२३. पुरोहित
७ नागवीथी	१५ सपुष्प	२४. पुरारोह
८ पुष्पक	१६ शुक्ति	२५. विद्युन्मदारक।
	१७ वृत्त	

वितान-वास्तु विच्छित्ति सुमार्य—सप्तधा सुता

तुम्बिनी	भाम्माता	हेला
लम्बिनी	मनोरमा	
मोला	शान्ता	

टि०—जिस प्रकार से शिखर प्रासाद का मौलिक रूप है उसी प्रकार वितान मण्डप का। यह वितान विविध है जो Ceiling के अनुरूप—

समतल वितान　　क्षिप्रतल वि०　　उत्क्षिप्ततल वि०

पुनः इनकी विधा चतुर्धा हैं—

पद्मक　　नाभिच्छन्द　　सभामार्ग　　मन्दारक

पुन—इनको शैल्यनुरूप हम निम्न चार उपवर्गों मे कवलित करते है—

शुद्ध　　सघाट　　भिन्न　　उद्भिन्न

इस प्रकार इन वितानो का टोटल निम्न तालिका में १११३ होता है.—

	पद्मक	नाभि	सभामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
सघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८

—१११३

टि०—यह मण्डप वास्तु नागर-शैली का है। द्राविडी शैली का मण्डप-वास्तु बडा विलक्षण है। उसमे स्तम्भ-संख्या एवं स्तम्भ-चित्रण ही वैशिष्ट्य

है। यह विवरण हम विमान-वास्तु में थोड़ा सा उपस्थित करेंगे। अब आइये प्रासाद-जगती पर।

प्रासाद-जगती—

वैसे तो जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अंग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार इस प्रकार इस प्रासाद-पुरुष का कलेवर जगत्याश्रित ही है। परन्तु सं० सू० में जगतियों को जगती-प्रासादों के रूप में विभावित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरापथ में गौरवानपदीय मन्दिर शिवालय विशेषकर एक छोटे यायतन Shrine के अतिरिक्त जो विशेष छटा इन मन्दिरों में दर्शनीय है वह एक-मात्र ऊँची ऊँची चौड़ी लम्बी जगती ही है, जहां पर जनता एकत्रित होती है—धार्मिक उत्सव, पूजोत्सव (शिवरात्रि आदि) मनाते हैं अतएव स० सू० का प्रवचन यह पठनीय है:

> त्रिदशागारमुख्यर्थं भूषाहेतोः पुरस्य तु।
> भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वकालं च शान्तये॥
> निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य सिद्धये।
> मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम्॥
> जगतीनाथ ब्रूमो लक्षणं विस्तरादिह॥

ऊपर जो हमने संकेत किया है उसका इस उद्धरण में पोषण हो जाता है। पुनः इन जगतियों पर नाना परिवार-देवों की मढ़िया (Smaller shrines) भी चारों ओर विन्यसित की जाती हैं। यह परम्परा पंचायतन-पूजा-परम्परा के अनुरूप है।

पुनः—जगती जैसा हमने पीठिका के रूप में, वास्तु-अवयव है, उसी प्रकार प्रासाद पुरुष है—विराट-पुरुष है जिसमें तीनों लोक अर्पित हैं। अतः विराट् पुरुष त्रिलोकी है तो इस दार्शनिक दृष्टि से प्रासाद लिंग है तथा जगती पीठिका है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूर्ति के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार प्रासाद-लिंग के लिए जगती पीठिका अनिवार्य है। स० सू० के निम्न प्रवचन को पढ़िए:—

> प्रासादं लिंगमित्याहुस्तिज्जगत्स्थनाद् यतः।
> ततस्तदाधाररूपा जगती पीठिका मता॥

अस्तु, अब हम जगती की दोनो तालिकाओं की अवतारणा करते हैं एक जगती-शाला दूसरी जगती-सज्ञा। यत. जगती पर भिन्न दिशाओं एव कोणों पर परिवार-देवालय स्थान-विहित हैं, अत. तदनुरूप ये शालाएं अनिवार्य हैं —

जगती-शाला-घटक—

कर्णोदभवा	भद्रजा	मध्यजा
भ्रमोत्था	गर्भसम्भवा	पार्श्वजा

एकोनचत्वारिंश (३९) जगती—

वसुधा	कुलशीला	विश्वरूपा
वसुधारा	महीधरी	आदिकमला
वहन्ती	मन्दारमालिका	त्रैलोक्य सुन्दरी
श्रीधरा	अनगलेखा	गन्धर्वबालिका
भद्रिका	उत्सवमालिका	विद्याधरकुमारिका
एक-भद्रा	नागारामा	सुभद्रा
द्वि-भद्रिका	मारभध्या	सिंहपञ्जरा
त्रि-भद्रिका	मकरध्वजा	गन्धर्वनगरी
भद्रमाला	नन्द्यावर्ता	अमरावती
वैमानी	भूपाला	रत्नप्रभा
भ्रमरावली	पारिजातकमञ्जरी	त्रिदशेन्द्रसभा
स्वस्तिका	चूडामणिप्रभा	देवयन्त्रिका
हरमाला	श्रवणमञ्जरी	..

टि० इन ३९ के अतिरिक्त यमला, अम्बुधरा, चैत्रा, दोर्दण्डा, खण्डला तथा सिता भी परिसंख्यात हैं अत इनकी संख्या ४५ हो गयी।

प्रासाद प्रतिमा-लिंग —

नागर वास्तु-विद्या के अनुरूप शिव मन्दिर ही प्राचीन-काल, पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल मे विशेष प्रथित थे, अत इन मन्दिरों में शिव-लिंग ही प्रासाद-प्रतिमा प्रधाना प्रतिमा स्थाप्या थी। स० सू० के अनुसार प्रासाद-प्रतिमा-लिंग के निम्न वर्ग प्रकल्पित हैं—

मुख-लिंग—जो भगवान पशुपति का मुख लिंगोपरि बिम्ब है।

द्रव्य-लिंग ...दे० प्रतिमा-काण्ड—

लिङ्ग-भाग ब्राह्म, वैष्णव, माहेश दे० प्र० वा०

लोक-पाल—दे० इन्द्रादि-लिंग दे० अन्तिम अध्याय एवं उसका अनुवाद।

विशिष्ट लिंग—पुण्डरीक, विशाल श्रीवत्सादि।

लिंग-पीठ— पीठ-भाग—रुद्रादि-भाग
पीठोत्सेध
पीठ प्रकार

टि०—१ ये सब विवरण अनुवाद-स्तम्भ में द्रष्टव्य हैं।

टि०—यथाप्रतिमान प्रासाद-भूषानुरूप यहाँ पर प्रासाद-प्रतिमाओं अर्थात् Sculplure पर भी समीक्षा करनी है।

प्रासाद-प्रतिमा—से तात्पर्य द्विविध है—गर्भ-प्रतिमा, भूषा-प्रतिमा। गर्भ प्रतिमा से तात्पर्य पूज्य प्रतिमा से है जो प्रासाद (Sanctum Sonctorum) में प्रतिष्ठा पुरस्सर प्रतिष्ठापित होती है। यह प्रासाद एक कलाकृति नहीं वह हमारे सम्पूर्ण धर्म एवं दर्शन का प्रतीक है, अतः उसके कलेवर पर निराकार साकार, ब्रह्म तथा जीव, स्थावर एवं जंगम जगत सभी बिम्ब हैं जो नीचे से लगातार अर्थात् पीठ अथवा जगती से प्रारम्भ कर आमलक अर्थात् (निराकार ब्रह्म का प्रतीक) में प्रत्यवसित होते हैं। यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर मिथुन, अप्सरायें लक्ष्मी-लता-वीरुध-पादप-पारिजात-शार्दूल-पंक्ति आदि आदि सभी ये प्रासाद-भूषा-प्रतिमाओं के निदर्श हैं।

विमान--काण्ड--द्राविड़--शिल्प

१—विमानाङ्ग

२—विमान-निवेश—

प्राकार

गोपुर

मण्डप

परिवार

शालायें

३—विमान-भेद ।

विमानांग—

टि०—पीछे प्रासाद-काण्ड मे द्राविड प्रासादो अर्थात् भौमिक विमानो की विशेषता पर कुछ हम संकेत कर ही चुके हैं। अतः अब यहा पर स्वल्प मे इस प्रासाद-पदावली को पूर्ण करने के लिये हम सर्वप्रथम विमानागो पर प्रकाश डालेंगे। निम्न तालिका देखें —

अधिष्ठान	द्वार	कुम्भलता
पीठ	वेदिका	प्रस्तर
उप-पीठ	भित्ति	उत्तर
पद्म	शाला	नीप्रफलक
गर्भ-गृह	कूट	शिखर
अम्बुमार्ग	पंजर	स्तूपिका
स्तम्भ	जालक	विमान-शिखर

अब इनके भेद-प्रभेदो एव विच्छित्तियो की तालिका प्रस्तुत की जाती है —

पीठ-उप पीठ-अधिष्ठान—

ये सब प्रगाभिभाव से परिकल्प्य हैं अधिष्ठान अर्थात् base किसी भी भवन के लिये अनिवार्य है, परन्तु अधिष्ठान के चिरकाल-सहत्वार्थ उप-पीठ भी अनिवार्य है—मयमत का यह निम्न प्रवचन कितना सार्थक है :—

अधिष्ठानस्य चाधरतादुपपीठ प्रयोजयेत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थंच शोभार्थं तत्प्रचक्ष्यते ॥

अधिष्ठान के पर्याय—

मसूरक	प्रावङ्ग	भुवन
वास्त्वाधार	धरातल	पृथिवी
कुट्टिम	आधार	भूमि
तल	धारिणी	आदि

अधिष्ठान-विच्छित्तिया

काश्यपीय	शिल्प-रत्नीय
उपान	उपान
जगती	कुम्भ
कुम्भ	जगती
गण्ड	कन्धर
पट्टिका	प्रस्तर

अधिष्ठान-भेद—१४

"अधिष्ठान मय प्राह चतुर्दशविध पृथक्"

१	पादबन्ध	८	श्रीकान्त
२.	उग्रबन्ध	९	श्रेणीबन्ध
३	प्रतिवर्म	१०	पद्मबन्ध
४	पद्मकेसर	११	वप्रबन्ध
५	पुष्प-पुष्कल	१२	कपोत-बन्ध
६	श्रीबन्ध	१३.	प्रतिबन्ध
७	मञ्च-बन्ध	१४	कलश-बन्ध

टि० १—काश्यप-शिल्प मे १४ के बजाय २२ अधिष्ठान-भेद हैं। मानसार मे ८ वर्गों मे ८ उप-वर्ग और हैं—६४।

टि० २—जहा तक अम्बु-मार्ग, वर्म आदि का प्रश्न है, वह पदानुक्रम Terminological point of view से विशेष सकीर्त्य नही अत अब हम स्तम्भ पर आते हैं।

स्तम्भ—

स्तम्भ पर्याय—मयमते		मानसारे	
स्थाणु	चरण	जघा	स्थूण
स्थूण	आङ्घ्रिक	चरण	पाद
पाद	तलिप	स्तली	कम्भ
जघा	कम्प	स्तम्भ	भर
		अङ्घ्रिक	भारक
		स्थाणु	धारण

स्तम्भ-भेद—

आकृत्यनुरूप	विच्छित्यनुरूप
ब्रह्मकान्त	चित्रखण्ठ
विष्णुकान्त	पद्मकान्त
रुद्रकात	चित्रस्कम्भ
शिवकान्त	पालिकास्तम्भ
स्कन्दकान्त	कुम्भस्तम्भ
चन्द्रकान्त	

द्वार—

द्वारांग—कार्यसिद्धयर्थं तथा शोभार्थ—

भ्रमरक प्रक्षेपणीय	पुलक-भार्तव-कुण्डल
अर्गला वलय	श्रीमुख
सन्धिपाल पत्रक	इन्दु-सकल

टि०—सोपान, घनाद्वार (Thick Door), तोरण आदि सर्ववेद्य हैं—स्थाना-भाव विशेष सकीर्तन नही।

भित्ति —

भित्ति आदि पर केवल मानादि विवरण है। यहा पर भित्ति के लिये वेदिका अनिवार्य है। पुन भित्ति मे ही नाना भूषायें स्थापत्यानुरूप परिकल्प है—कूट, कोष्ठ, पंजर, शालायें, जालक, कुम्भलता आदि आदि।

उत्तर-प्रस्तर —जहा तक उत्तर एव प्रस्तर का प्रश्न है वे विशेष विवेच्य हैं। शिल्पाचार्यों ने हिन्दू-प्रासाद को अगानुरूप निम्न षडङ्ग मे विभाजित किया है, जो प्रधान भ ग है—

अधिष्ठान	गल
पाद	शिखर तथा
प्रस्तर	स्तूपिका

प्रस्तर एव उत्तर एक दूसरे से अनुपगित हैं, जो पाद अर्थात् स्तम्भोपरि निर्मेय है।

शिखर एव स्तूपिका—शिखर पर हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं। विमान-वास्तु की विशेषता स्तूपिका है तथा प्रासाद-वास्तु की विशेषता आमलक है। यह सब अध्ययन मे देखें। यह इतना गहन विषय है कि बिना नाना शिल्प-ग्रन्थो के पूर्ण परिशीलन के, इस शिखर-विन्यास पर पूरा प्रकाश नही डाला जा सकता। अस्तु अब हम आते है स्वल्प मे विमान-निवेश पर।

विमान निवेश—प्रासाद-निवेश से विलक्षण है इस पर हम पहले ही कुछ सकेत कर चुके है। अब हम अपनी उद्भावनानुरूप विमान-निवेश को निम्न वर्गों मे विभाजित कर सकते है—

विमान	(गर्भ-गृह) Proper
आगार	मण्डप

गोपुर	शालायें
परिवार	रंग-मंडप, प्रपा आदि

विमान भेद —विमान प्रासादों को शिल्प-ग्रन्थों ने अल्प प्रासाद, महाप्रासाद, जाति-प्रासाद इन को प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है। पुन ये प्रासाद तलानुरूप विभाजित किये गये हैं—एकतल, द्वितल आदि आदि। पुन मानारूप इन्हें छन्द, विकल्प, आभास में वर्गीकृत किया गया है। अस्तु, इस अत्यन्त स्थूल-समीक्षोपरान्त अब हम मानसारीय ९६ विमानों की तालिका प्रस्तुत करते हैं जो आगे का स्तम्भ है अर्थात् विमान-भेद वह यही पर उपस्थाप्य हैं :—

एक-तल-विमान-८	द्वितल-विमान-८	त्रितल विमान-८
वैजयन्तिक	श्रीकर	श्रीकान्त
भोग	विजय	आसन
श्रीविशाल	सिद्ध	सुखालय
स्वस्तिबन्ध	पौष्टिक	केशर
श्रीकर	अन्तिक	कमलाग
हस्तिपृष्ठ	अद्भुत	ब्रह्मकान्त
स्कन्दतार	स्वस्तिक	मेरुकान्त
केशर	पुष्कल	कैलाश

चतुस्तल-विमान-८	पंचतल-विमान ९	षट्तल विमान ११
विष्णुकान्त	ऐरावत	पद्मकान्त
चतुर्मुख	भूतकान्त	कांतार
सदाशिव	विश्वकान्त	सुन्दर
रुद्रकान्त	मूर्तिकान्त	उपकान्त
ईश्वरकान्त	यमकान्त	कमलाक्ष
मन्चकान्त	गृहकान्त	रत्नकान्त
वैदिकान्त	यज्ञकान्त	विपुलाक
इन्द्रकान्त	ब्रह्मकान्त	ज्योतिष्कान्त
	महाकान्त	सरोरुह
	कल्याण	विपुलकोटि
		स्वस्तिक-कान्त
		नन्द्यावर्त
		इक्षुकान्त

सप्त-तल-विमान-८	अष्टतल-विमान-८
पुण्डरीक	भूतकांत
श्रीकांत	भूपकांत
श्रीभोग	स्वर्गकांत
धारण	महाकांत
पञ्जर	जनकांत
आश्रमागार	तपस्कांत
हर्म्यकांत	सत्यकांत
हिमकांत	देवकांत

नवतल-विमान-७	दशतल विमान-६
सौरकांत	भूकांत
रौरव	चन्द्रकांत
चण्डित	भवनकांत
भूषण	अन्तरिक्षकांत
विवृत	मेघकांत
सुप्रतिकांत	अब्जकांत
विश्वकांत	

एकादश-तल विमान ६	द्वादशतल-विमान-१०	
शम्भुकांत	पांचाल	केरल
ईशकांत	द्राविड	वेशरकांत
चन्द्रकांत	मध्यकांत	मागधकांत
यमकांत	कालिंगकांत	जनकांत
वज्रकांत	वराट	स्फूर्जक(गुर्जरक)
अर्ककांत		

प्राकर

प्रयोजन—		
	बलि	भोगार्थ
	परिवार	परिवार देवताओं के लिए
	शोभा	यथानाम
	रक्षा	यथानाम

भेद—५	अन्तर्मण्डल	मध्यहारा
	अन्तर्हारा	प्राकार
		महामर्यादा

टि०—स्थापत्यानुरूप इन को भी जाति, छन्द, विकल्प एवं आभास की अपनी अपनी श्रेणियो मे रक्खा गया है।

गोपुर—इनको सप्तदश भूमियो मे भी शिल्प-ग्रन्थो मे वर्णित किया गया है। दाक्षिणात्य मन्दिरो की ही यह एकमात्र विशेषता है। मदुरा के मीनाक्षि-सुन्देश्वरम् मन्दिर के गोपुर सर्वातिशायी गोपुर हैं, परन्तु वहा भी १२ से अधिक भूमिया नही दिखाई पडती हैं। गोपुर महाद्वार हैं। चिदम्बरम् के गोपुर की वैसे वहा भरत के नाट्य-शास्त्रीय १०८ नृत्य-मुद्राओ का जो चित्रण प्राप्त होता है वह वास्तव मे मानव-कृति नही है, देवी या यक्षिणी कृति है गजब है।

परिवार—विशेष प्रतिपाद्य नही इससे तात्पर्य परिवार-देवताओ के अपने अपने आलय प्रासाद-गर्भ गृह के निकट निर्मेय हैं।

मण्डप—

स्थापत्यानुरूप—मण्डपो की संज्ञायें स्तम्भानुरूप हैं —

शतमण्डप १०० खम्बे वाले
सहस्रमण्डप १००० ,, ,,

टि०—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, चिदम्बरम्, रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य विमान-प्रासाद-पीठो पर यह सुषमा दर्शनीय है।

शास्त्रीयानुरूप—मानसार मे—

हिमज	पारियात्र
निषधज	हेमकूट
विन्ध्यज	गन्धमादन
माल्यज	

इनके अतिरिक्त अन्य मण्डप हैं —

मेरज	पुस्तकालय के लिये
पचक	महानस के लिये Temple-Kitchen
शिव	साधारण पाकशाला के लिये
पप	पुण्य-वेश्म के लिये
भद्र	पानादि के लिये

शिव	धान्यालय के लिये
वेद	सभा के लिये
कुलधारण	कोष्ठागार के लिये
सुखाम	अतिथियों के लिये
दार्व	हस्तियों के लिये
कौशिक	घोडों के लिये

वि० वा० शा० में शतस्तम्भ-मण्डप-शीर्षक के अध्याय में निम्न संज्ञाओं से शत स्तम्भ मण्डपों का उपस्थापन है :—

१. सूर्यकांत शत-स्तम्भ-मण्डप
२. चन्द्रकांत ,,
३. इन्द्रकांत ,,
४. गन्धर्वकांत ,,
५ ब्रह्मकांत

साथ ही इस के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार ने मण्डप-प्रयोजन पर निम्न वर्ग उपस्थित किये हैं:—

अभिषेक	जप	विहार
याग	वाहन	अध्ययन
आस्थान	प्लवोत्सव	प्रणय-कलह
अलङ्करण	डोला	दमनिकोत्सव
विवाह	मासोत्सव	शयन
वसन्त	संवत्सरोत्सव	पक्षोत्सव
ग्रीष्म	नैमित्तिकोत्सव	नित्योत्सव
कार्तिक	वार्तिक-मण्डप-निर्माण	आखेट

प्रासाद-विमान-पुरातत्वीय स्थापत्य-निर्देशन

टि०—हमने अपने Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture (See An Outline History of Hindu Temple pp 482—575) तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि वैदिकी, पौराणिकी, लोकधार्मिकी तथा राजाश्रया—में इस प्रसाद-स्थापत्य का एक नवीन समीक्षा अर्थात् ऐतिहासिक स्थापत्य एव शास्त्रीय सिद्धात इन दोनो के समन्वयात्मक (Synthetic) दृष्टिकोण से जो वहा इस पर प्रबध प्रस्तुत किया है वह पाठक एव विद्वान् अवश्य परिशीलन करें। अत यहा तो केवल पदावली का ही प्रश्न है अतः इन कोटियो मे भारत की इस महान् स्थापत्य-विभूति को दर्पणवत् तालिकाओ मे प्रस्तुत करने का प्रयास करना है।

लयन गुहाधर-गुहराज—इन प्रासाद-पदो से तात्पर्य गुहा-मदिरो, गुहा-चैत्यो, गुहा-विहारो से है। स० सू० को छोड़कर अन्य शिल्प-ग्रन्थो मे यह पदावली प्राप्त नहीं है। इनके निदर्शन निम्न तालिका-बद्ध परिशीलनीय हैं।

एक तथ्य और भी सूच्य है। गुहा-निवास अति प्राचीन-काल से ध्यान एव तपस्या के लिये प्रथित रहे हैं। पौराणिक भूगोल मे मेरु देवावास तथा कैलाश शिव-निवास है। अत जहा लयन, गुहाधर, गुहराज इन गुहामन्दिरो की पदावली है, वहा मेरु, मदर, कैलाश आदि शिखरोत्तम प्रासादो की सज्ञाये हैं। अत लयन है श्रीगणेश तथा पर्वताभिध प्रासाद एव विमान-सज्ञक प्रासाद अवसान हैं। यह कितना विकास द्योतित हो रहा है। आइये अब तालिकाओ पर।

लयन-गुहाधर-गुहराज-प्रासाद-पीठ-तालिका—

१	लोमसऋषि-गुहा	१३	अजन्ता
२	सुदामा	१४	एलोरा
३	विश्वझोपड़ी	१५	मामल्लपुरम्
४	खडगिरि गुफाएं	१६	कोन्डीवटे
५.	उदयगिरि-पर्वत-कदराये	१७	पीतलखोरा
६	हाथी-गुम्फा	१८	विदिशा
७	भाज	१९	नासिक
८	नागार्जुन-पर्वत	२०	वर्ली-कन्हारी
९	सीतामढी	२१	बीर (देवगढ)
१० कार्ली ११	बीर (देवगढ)	२२	आनन्द पगोडा (वर्मा)
१२	कोडन	२३	थयान मन्दिर (वर्मा)

२४	एलीफेंटा	२७	अमरावती-स्तूप मंदिर
२५	साची	२८	जग्गयपेट स्तूप मंदिर
२६	सारनाथ	२९	अन्य अनेक अवशेष

निष्कर्ष यह है कि लयनो के निदर्शन—विशेष शास्त्र एव कला के आनुषगिक हैं। लोमस ऋषि, खण्डगिरि उदयगिरि, हाथीगुम्फा, भाज, कोण्डन, कार्ली आदि गुहाधर का प्रतिनिधित्व अजन्ता म तथा गुहराज विलास एलौरा और मामल्लपुर मे।

हर्म्य प्रासाद तथा सभा मण्डप प्रासाद—

प्रथम सोपान

गुप्तकालीन वर्ग	चालुक्य वर्ग
नचना	लादाखान
कुठार	दुर्गामन्दिर
भूमरा	हच्छिमल्लेगुडी
द्वितीय सोपान-गुप्तकालीन	द्वितीय सोपान चालुक्यकालीन
नागर—शैली मे	द्राविड—शैली मे
पापानाथ	सगमेश्वर
जम्बुलिग	विरूपाक्ष
करसिद्धश्वर	मल्लिकार्जुन
काशीनाथ	गलगनाथ
	सुनेश्वर
	जैनमदिर

नागर-प्रासाद—

निम्न प्रख्यात प्रासाद पीठों में विभाज्य हैं —

१ उडीसा—भुवनेश्वर कोणार्क तथा पुरी
२ बुन्देल-खण्ड़स खुराहो
३ राज-स्थान तथा मध्यभारत
४ लाट-देश (गुजरात तथा काठियावाड़)
५ दक्षिण (खानदेश)
६ मथुरा वृन्दावन

कालिंग-प्रासाद

७००-९०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	९००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
वैताल दुभल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुगणेश्वर	जगन्नाथ (पुरी)
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०	
अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	भराइ दुभल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
भ्रमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्सना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ *Vastusastra Vol. I*

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१ चौसठ जोगिनी-मन्दिर	४ मातंगेश्वर महादेव
२ कन्दरिया (कन्दरीय) महादेव	५ हनुमान का मन्दिर
३ लक्ष्मण-मन्दिर	६ जवारि मन्दिर
	७. दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१. सागर जिला मे एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।
२. पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३ ग्यरासपुर मे चतुष्कम्भ, अष्टखम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एव मध्यकालीन

४	उदयपुर	१ उदयेश्वर—एकलिंग महादेव
५	जोधपुर	धानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर में एक-शिखर भी
	,, ओसिया	ओसिया मे लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।
	ग्वालियर	सास-बहू (सहस्त्रबाहु) मन्दिर, तैली का मन्दिर आदि
	आबू पर्वत	जैन-मन्दिरो की श्रेणिया जैसे तारका-मण्डित नभ

गुजरात तथा काठियावाड के मन्दिर

सोल की राजाओ को श्रेय है जिन्होने अनहिलवाड पट्टन (अहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये। इसी क्षेत्र के अन्य क्षेत्रीय पीठ है :—

सुनक	मोधारा (सूर्य-मन्दिर)
कनोदा	सिद्धपुर (रुद्रमल)
देलमल	काठियावाड
कसरा	घुमली
	जैजाकपुर—नवलखा-मन्दिर

सोमनाथ विश्वविश्रुत-मन्दिर-ज्योतिलिंग
शत्रुञ्जय तथा गिरनार पर्वत-श्रेणियाँ जो मन्दिर नगरिया हैं।

दक्षिण—खानदेश

अम्बरनाथ (प्रथित प्रासाद) थाना जिला मे
नो मन्दिर (ग्रादेनशिवन) हेमदपन्ती शैली।

मथुरा-वृन्दावन	
गोविन्द-देवी	गोपीनाथ
राधावल्लभ	युगलकिशोर
	मदनमोहन

कालिंग-प्रासाद

७००-६०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	६००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
वैताल दुग्रल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुगणेश्वर	जगन्नाथ (पुरी)
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०	
अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	सराइ दुग्रल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
अमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्सना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ Vastusastra Vol I

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१ चौसठ जोगिनी-मन्दिर
२ कन्दरिया (कन्दरीय) महादेव
३ लक्ष्मण-मन्दिर
४ मातंगेश्वर महादेव
५ हनुमान का मन्दिर
६ जवारि मन्दिर
७. दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१ सागर जिला मे एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।

२ पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३. ग्यरासपुर मे चतुष्कम्भ, अष्टस्तम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एवं मध्यकालीन

४. उदयपुर १ उदयेश्वर—एकलिंग महादेव

५. जोधपुर घानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर में एक-शिखर भी

" ग्रोसिया ग्रोसिया में लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।

ग्वालियर सास-बहू (सहस्रबाहु) मन्दिर, तैली का मन्दिर ग्रादि

ग्राबू पर्वत जैन-मन्दिरों की श्रेणिया जैसे तारका-मण्डित नभ

गुजरात तथा काठियावाड़ के मन्दिर

सोल की राजाम्रो को श्रेय है जिन्होंने ग्रन्हिलवाड पट्टन (ग्रहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये। इसी क्षेत्र के ग्रन्य सेंटर पीठ है :—

विमान-प्रासाद—

दाक्षिणात्य प्रासाद स्थापत्य

[इ० इसको राजाश्रयानुरूप निम्न वर्गों मे बाट सकते हैं —

१ पल्लव राजवश ६००-९०० ई०
२ चोल राजवश ९००-११५० ई०
३ पाण्ड्य नरेश ११५०-१३५० ई०
४ विजयनगर १३५०-१५६५
५ मदुरा १६००-१८०० (लगभग)

पल्लव-राजवशीय-सरक्षण मे उदित प्रासाद भ्रणिया एव पीठ

१. महेन्द्र-मण्डल (६००-६४०) मडप-निर्माण पार्वत-वास्तु
२. मामल्ल मडल (६४०-६९०) विमानरो एव रथो का निर्माण
३ राजसिंह-मडल (६९० से ८००) विमान-निर्माण निविष्ट—वास्तु
४ नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-९००) " " "

महेन्द्र मण्डलीय प्रासाद-पीठ	**मामल्ल-मंडलीय**
मदग पट्टु	मामल्लपुरम्
त्रिचनापल्ली	यहा के सप्तरथ-धर्मराज, भीम, अर्जुन
पल्लवरम्	सहदेव, गणेश आदि Seven Pagodas
मोगलार्जुन-पुरम् ।	

राजसिंह-मडल

१ मामल्लपुर-पीठ पर ही तीन विमान – उपकूल (Shore) ईश्वर, तथा मुकुन्द मदिर ।
२ पनमलाई
३ काञ्जीवरम्—कैलाश-नाथ तथा वैकुण्ठ-पेरु-मल ।

नन्दि-वर्धन—मण्डलीय—छै प्रासाद —

१—२ कजीवरम् मुक्तेश्वर तथा मातङ्गेश्वर
३—४ चिंगलपट मे ओरंगदम् तथा वदमल्लीश्वर

३ अरकोनम के निकट तिरुत्तनी के विराट्नेश्वर
४. गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वरम्

चोलाराज-वंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—
क्षुद्र कृतियां...

सुन्दरेश्वर	तिरुवट्टुलाई
विजयलय	नरत मलाई
मुवरकोइल	कोडुम्बेलूर
(त्रि—प्रासाद)	
मुचकुन्देश्वर	कोलट्टूर

कदम्बर—कदम्बरमलाई—नरतमलाई

वालसुब्रह्मण्यम्	कन्नोर

विशाल कृतियां
तञ्जौर बृहदीश्वर
गङ्गैकोण्डचोलपुरम् बृहदीश्वर (राजराजेश्वर)

टि० दाक्षिणात्य मन्दिरों का यह मुकुट-मणि-मन्दिर बृहदीश्वर है, जो चोलों की देन है। चोलों का यह वास्तु-वैभव भारतीय कला का स्वर्णिम युग था।

पाण्ड्य-राजवंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—

टि० पाण्ड्यों ने दाक्षिणात्य-शिल्प में एक नया युग प्रस्तुत किया— मन्दिरों के प्राकार तथा गोपुर। साथ ही साथ जीर्णोद्धार के द्वार प्राचीन मन्दिरों को नयी सुषमा से विभूषित किया। कञ्जीवरम्, एकाम्र-नाथ, जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम् तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् इन मन्दिरों में गोपुरों एवं प्राकारों का विन्यास किया गया। एक नया मन्दिर दारासुरम् के नाम से विख्यात है।

विजय-नगर की राज-सत्ता में प्रोल्लसित प्रासाद—

इस काल में अलङ्कृतियों (Ornamentation) का भूरि प्रकर्ष प्रोल्लसित हो गया। एक नयी चेतना भी प्रादुर्भूत हो गयी। अधिपति-देवता की पत्नी के लिए कल्याण-मण्डपों का प्रारम्भ हो गया। विशेष निदर्शन :—

विजयनगर के अन्तस्तलीय मन्दिर
विट्ठल (विठोबा-पाण्डुरंग) कृष्ण-मन्दिर
हजराराम (Royal Chapel)
पम्पापति

विजयनगरीय शैली में बाह्य-मन्दिर—

वेलोर ताडपत्री

कुम्भकोणम विरिञ्चिपुरम्

कञ्जीवरम् श्रीरंगम्

मदुरा के नायक राजाओं का चरम काल

मदुरा— मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् श्रीरंगम् वैष्णव-तीर्थ

त्रिचनापल्ली के निकट जम्बुकेश्वर

तिरुवरूर चिदम्बरम्

रामेश्वरम् तिन्नवेल्ली

तिरुवनमल्लाई श्रीवेल्लीपुर आदि आदि

टि० भारतीय (उत्तर एवं दक्षिण) की महती मन्दिर-कला के विहंगावलोकन के उपरान्त वृहद् भारतीय, द्वीप-द्वीपान्तरीय भारतीय Greater Indian प्रोल्लास भी आवश्यक था। परन्तु इस स्तम्भ की पूर्त्यर्थ हम एकमात्र संकेत ही करना अभीष्ट समझते हैं :—

निम्न मंडल तथा प्रमुख निदर्शन देखें :—

काश्मीर-मंडल ...

१ मार्तण्ड मन्दिर

२. शंकराचार्य-मन्दिर

३ अनन्त-स्वामी विष्णु मन्दिर

४ अवन्तीश्वर शिव-मन्दिर

सिंहलद्वीप मण्डल—

लंकातिलक जेतवन राम

नेपाल-मण्डल—स्वयम्भू नाथ स्तूप, बुद्धनाथ, पशुपति नाथ

बर्मा मण्डल—पागन के मन्दर—मन्दिर-नगर

द्वीपान्तर-मण्डल—

कम्बोडिया—अंगकोर वट, बयोन मन्दिर, बन्तयश्री वैनतेयश्री

स्याम—महाधातु-मन्दिर

अन्नम (French Indochina) पाडव-मन्दिर,

भीम-मन्दिर (आदि आदि)

टि० स्याम, जावा, बाली, चम्पा आदि द्वीपान्तरीय भारतीय क्षेत्रों में भारतीय कला का पूर्ण (प्रोल्लास) ही नहीं, मध्य ऐशिया तथा मध्य अमेरिका (दे० मयकृत) में भी प्रोल्लास प्रत्यक्ष है।

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों में विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहां तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियों, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदों का प्रश्न है, वह सब पाठक जन विषयानुक्रमणी, मूल परिष्कार एवं वास्तु-शिल्प-पदावली में परिशीलन करें। अतः इस अनुक्रमणी के बृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदों की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है, परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

प्रथम-खण्ड

ख

पृ० सं० २४६

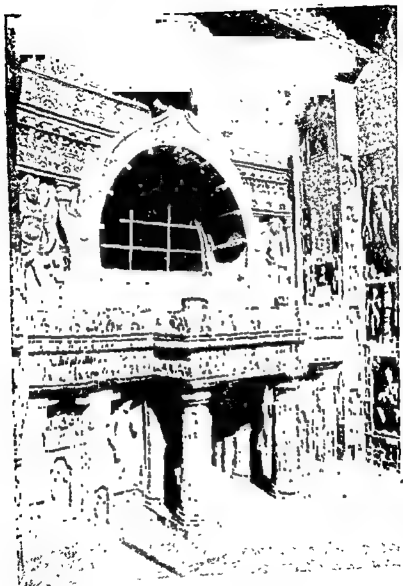
शास्त्र एवं कला

पुरातत्वीय निदर्शन

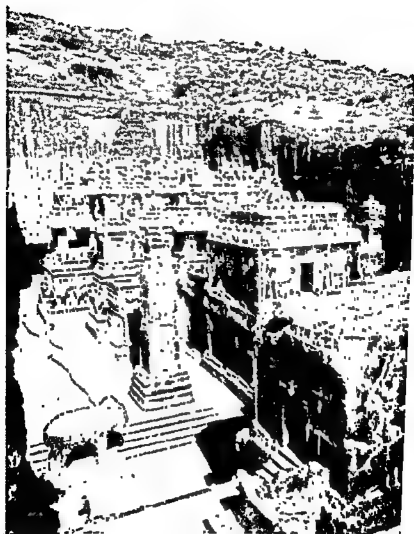
ILLUSTRATIONS



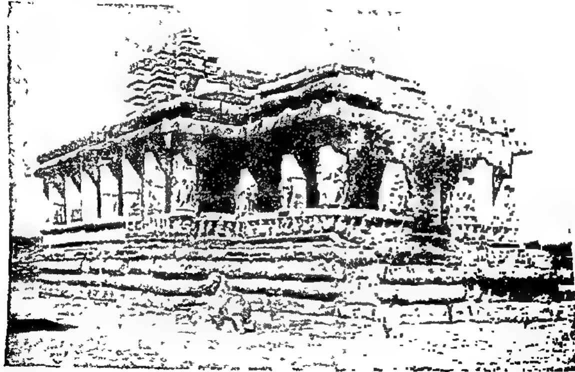
सयन-प्रासाद—अजन्ता



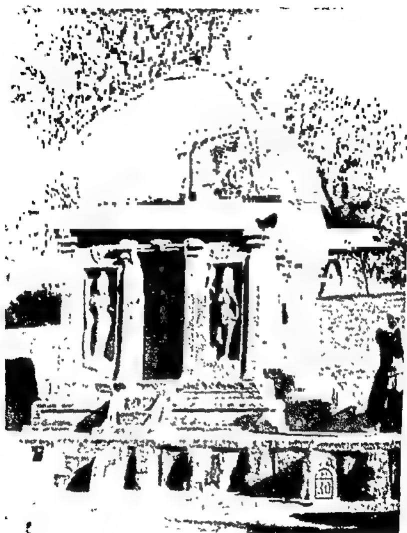
गुहाघर—सभामण्डप-प्रासाद, अजन्ता



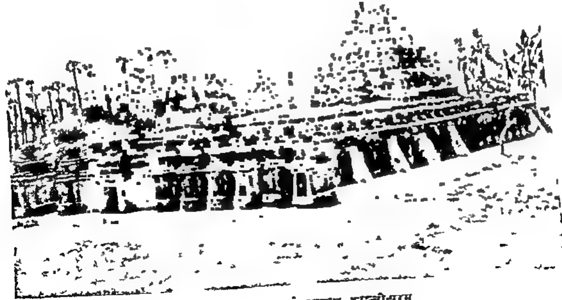
गुहराज—कैलाश, एलोरा



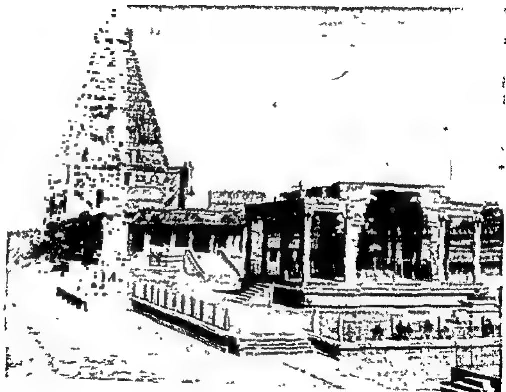
छाद्य प्रासाद—दुर्गा मन्दिर आयोहल



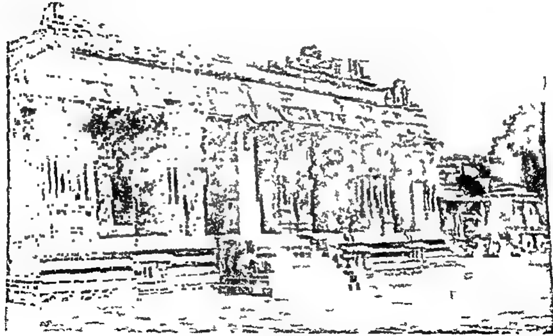
छाद्य-विमान—द्रौपदी-रथ महाबलि-पुरम्



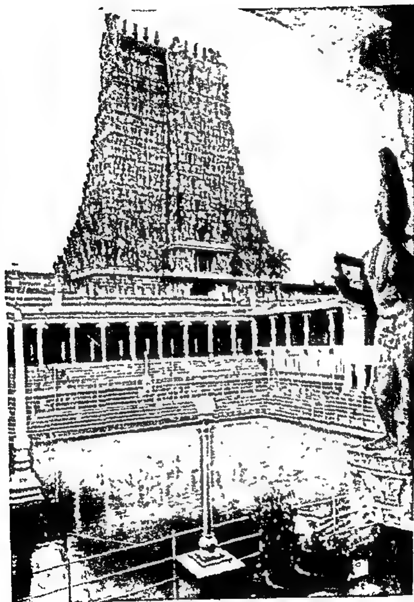
भौमिक विमान—कैलाशनाथ काञ्चीपुरम्



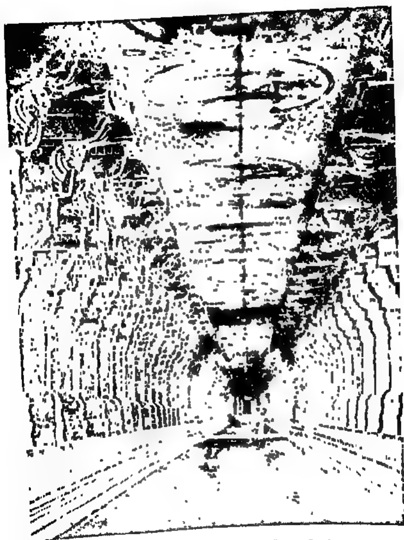
दक्षिण का मुकुट मणि भी० वि० बृहदीश्वर, तञ्जोर



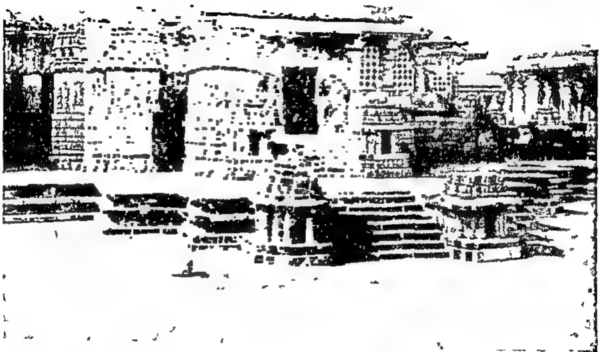
विजयनगरीय नवीन वि य म—विट्ठल मन्दिर मण्डप



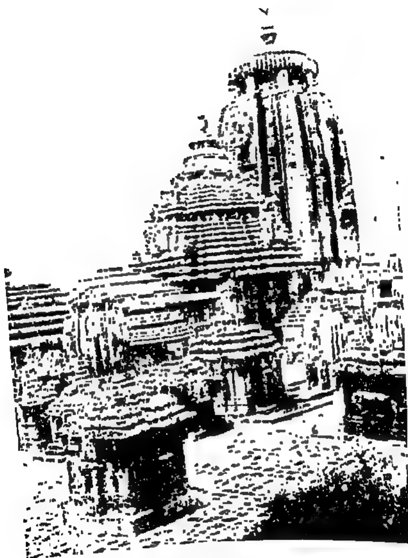
सर्वप्रसिद्ध भौमिक विमान गोपुर — मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, मदुरा



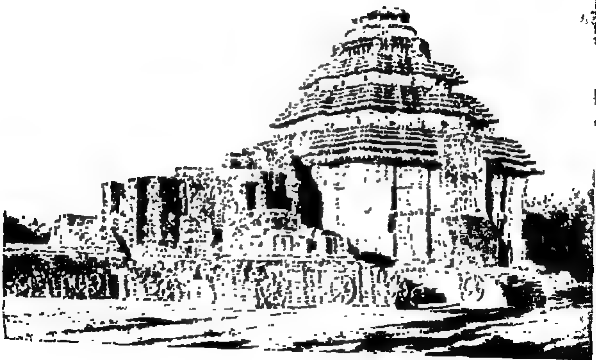
रामश्वरम का दक्षिणा दराल (Corridor)



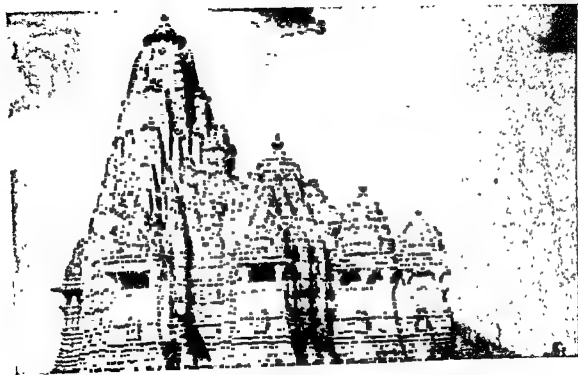
दाक्षिणात्य विमान शिखर का सक्षण में प्रवमान—हैमनेश्वर (होयसलेश्वर)—मंदिर हलेबिड



उत्तरापथ की महाविभूति—लिङ्गराज भुवनेश्वर



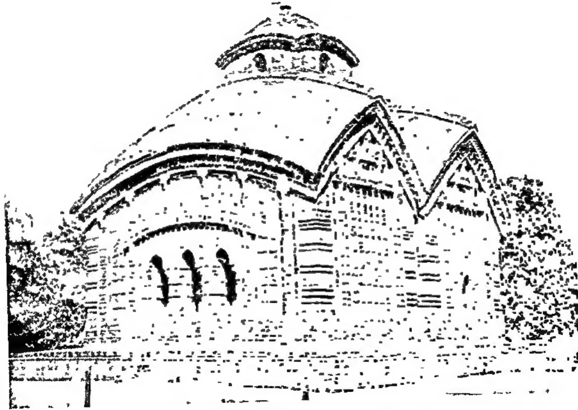
दिव्याकृति—सूर्य मन्दिर कोणार्क



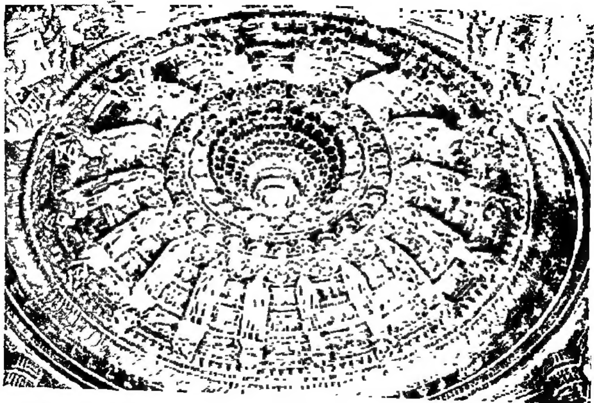
कन्हरिया (कन्दर्पीय) महादेव, खजुराहो



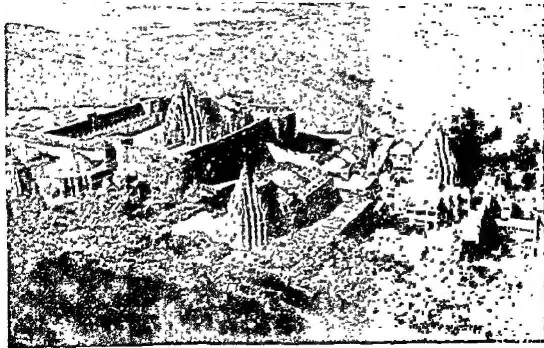
वालग्गका मव प्रमुख-निदग न—शिवालय अम्बरनाथ



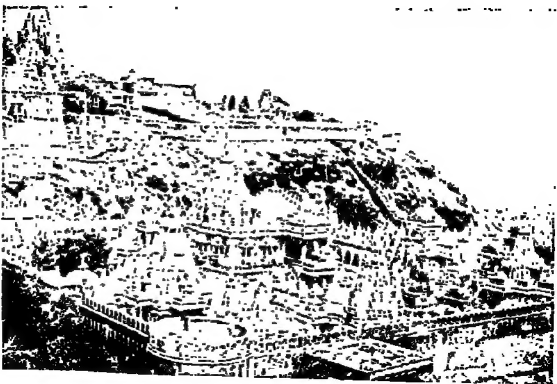
भूमिज-शैलीक (बंगाल बिहार) का प्रमुख निदर्शन—जोरबंगला, विष्णुपुर



जैन मंदिर — आबू पर्वत



जैन-मन्दिर-माला—गिरनार पर्वत



जैन-मन्दिर-नगरी—पालीताना